UPNUL/2013/51445 **अभिनिर्देशित** ISSN 2277-5854

श्रीविद्यामन्त्रमहायोग

(आगमतन्त्र की शोधपत्रिका)

(षाण्मासिकी)

संस्थापक सम्पादक
श्री दत्तात्रेयानन्दनाथ जी
(सीताराम कविराज)

सम्पादक मण्डल
प्रो. कमलेशदत्त त्रिपाठी
सम्मानित आचार्य, संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रो. श्रीकिशोर मिश्र
संस्कृत विभाग, कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा
समन्वयक, उच्च अध्ययन केन्द्र, दर्शनशास्त्र विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

श्रीविद्यासाधनापीठ
वाराणसी (उ.प्र.)

वर्ष 8 अङ्क 2

श्रीविद्या साधना पीठ शिवसदन गणेश बाग, नगवा, वाराणसी के लिये प्रकाशानन्दनाथ द्वारा श्रीविद्या साधना पीठ, शिवसदन, गणेश बाग, नगवा, वाराणसी से प्रकाशित एवं स्टार लाईन भवन संख्या बी 13/90 सोनारपुरा, वाराणसी से मुद्रित।

फरवरी, 2019

सम्पादक :
डॉ. राजेन्द्रप्रसाद शर्मा

प्राप्तिस्थान
प्रकाशन विभाग
श्रीविद्यासाधनापीठ
शिवसदन, गणेशबाग, नगवाँ, वाराणसी
दूरभाष : 0542-2366622

UPNUL/2013/51445
ISSN. 2277-5854
UGC Approved Journal (No. 40949)

सङ्गणकटङ्कित :
विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर

मुद्रक :
स्टार लाईन
सोनारपुरा, वाराणसी।

मूल्य : 125/-

नोट : इस अंक में प्रकाशित समस्त लेखों के सम्बन्ध में सभी विवाद वाराणसी न्यायालय के अधीन होंगे।

UPNUL/2013/51445 Peer Reviewed ISSN 2277-5854

ŚRĪVIDYĀ MANTRAMAHĀYOGA

Āgamic-Tāntric Research Journal

(Bi-annual)

Founder-Editor

Sri Dattātreyānandanāth

(Sitaram Kaviraj)

Editorial Board

Prof. Kamaleshdatta Tripathi

Emeritus Professor, Faculty of S.V.D.V.
BHU, Varanasi-5

Prof. Shree Kishore Mishra

Department of Sanskrit, Faculty of Arts,
BHU, Varanasi-5

Dr. Rajendra Prasad Sharma

Co-ordinator, Centre for Advanced Study, Department of Philosophy,
University of Rajasthan, Jaipur.

ŚRĪVIDYĀ SĀDHANĀ PĪTHA

Varanasi (U.P.)

वर्ष 8 अङ्क 2

Printed and Published by Prakashanand Nath on behalf of Shree Vidya Sadhna Peeth, Shivsadan Ganesh Bagh, Nagwa, Varanasi.
Printed at Starline, H. No.-B-13/90, Sonarpura, Varanasi and Published at Shree Vidya Sadhna Peeth, Shivsadan, Ganesh Bagh, Nagwa, Varanasi.

February, 2019

Editor :
Dr. Rajendra Prasad Sharma

Publications are available at :
Publications Department
ŚRĪVIDYĀ SĀDHANĀ PĪTHA
Shiv Sadan, Nagawa, Varanasi-221005
Ph. 0542-2366622

UPNUL/2013/51445
ISSN. 2277-5854
UGC Approved Journal (No. 40949)

Type Setting :
Vishal Computers, Jaipur.

Printer :
Starline, Sonarpura, Varanasi

Price : 125/-

Note : Any dispute arising on articles published in this issue shall be decided under the jurisdiction of Varanasi Court only.

विषय–सूची

	सम्पादकीय	डॉ. राजेन्द्रप्रसादशर्मा	
शोधलेख			
1.	शब्द ब्रह्म की साधना का वैज्ञानिक स्वरूप	आचार्य गुलाब कोठारी	1–13
2.	द्वैतवादी शैवागमों की शिवतत्त्व दृष्टि	प्रो. शीतलाप्रसाद पाण्डेय	14–26
3.	तन्त्रागम और आचार्य अभिनव गुप्त	महामहोपाध्याय देवर्षि कलानाथ शास्त्री	27–30
4.	वैष्णवागम सम्मत योग : एक विहंगावलोकन	योगेशप्रसाद पाण्डेय	31–35
5.	कुण्डलिनी जागरण की आगमिक प्रक्रिया	डॉ. रमाकान्त मिश्र	36–41
6.	भक्तिसूत्रों में प्रतिपादित भक्ति का विशिष्ट स्वरूप	डॉ मोनिका वर्मा	42–56
7.	Introduction to *Nityāśoḍaṣikārṇava*	Dr. Mythili Seetharaman	57–70

8.	Thirty Six Tattvas	Dr. Chaman Lal Raina	71–90
9.	Tripuropāsana in *Tripurārahasyam*	Geetha Padmanabhan	90–104

सम्पादकीय

सौभाग्य का विषय है कि परमपूज्य गुरुदेव की असीम अनुकम्पा से *श्रीविद्यामन्त्रमहायोग* का नवीन अङ्क प्रकाशित हो रहा है। इस अङ्क के प्रथम आलेख 'शब्दब्रह्म की साधना का वैज्ञानिक स्वरूप' में राजस्थान पत्रिका के प्रधान सम्पादक तथा पं. मधुसूदन ओझा वैदिक अध्ययन संस्थान के आचार्य प्रख्यात वेदमनीषी गुलाब कोठारी ने बीजमन्त्र के जप से इष्टसिद्धि का मार्ग प्रदर्शित करते हुए शब्दब्रह्म की वास्तविकता का वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया है। मानसिक जप में की गई नि:शब्द ध्वनियों का स्पन्दन किस प्रकार क्रियामय होता हुआ मन्त्र के साथ तादात्म्य स्थापित करता है। जब ध्यान में एकाग्रता हो तो शब्द ब्रह्म का यथार्थ साक्षात्कार भावरूप से हो सकता है। भाषा से अक्षर तत्त्व एवं ध्यानमग्नता का सैद्धान्तिक विवेचन प्रस्तुत कर साधकों के लिए महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। अत: सादर प्रणाम एवं अभिवन्दन।

द्वितीय आलेख 'द्वैतवादी शैवागमों की शिवतत्त्वदृष्टि' में प्रो. शीतलाप्रसाद पाण्डेय जी ने शैवागमों की शास्त्रीय दृष्टि के अनुसार प्राच्य शैव केन्द्रों की प्रामाणिक सूची प्रस्तुत की है। शैवोपासना को वैदिक एवं महाभारतीय उल्लेख से अति प्राचीन सिद्ध किया है। इस दर्शन के मूल तत्त्व पशु, पाश एवं पति आदि के स्वरूप को प्रकट कर महान् उपकार किया है एतदर्थ हार्दिक साधुवाद। नि:सन्देह यह लेख प्राचीन गम्भीर ज्ञान के मर्म को समुद्घाटित करता है।

तृतीय आलेख में राजस्थान के मूर्धन्य मनीषी देवर्षि कलानाथ शास्त्री जी ने कश्मीर शैवदर्शन एवं आचार्य अभिनव गुप्त के ऊपर वैदुष्यपूर्ण आलेख प्रस्तुत कर महनीय उपकार किया है अत: सादर नमन।

चतुर्थ आलेख 'वैष्णवागम सम्मत योग : एक विहंगावलोकन' में लेखक ने वैष्णवागमों के अनुसार योग का महत्त्वपूर्ण एवं प्रामाणिक स्वरूप सुस्पष्ट किया है।

पञ्चम आलेख 'कुण्डलिनी जागरण की आगमिक प्रक्रिया' में डॉ. रमाकान्त मिश्र ने कुण्डलिनी जागरण की गुप्त विधि पर शास्त्रीय रीति से प्रकाश डाला, एतदर्थ धन्यवाद।

छठे लेख 'भक्तिसूत्रों में प्रतिपादित भक्ति का विशिष्ट स्वरूप' में डॉ. मोनिका वर्मा ने नारद एवं शाण्डिल्य सूत्रों पर आधारित भक्ति के विशिष्ट स्वरूप को प्रदर्शित करते हुए इसके विविध आयामों को सुस्पष्ट किया है, जिससे भक्ति दर्शन की गहनता प्रमाणित होती है।

सातवें शोधपूर्ण आलेख 'Introduction to ***Nityāśoḍaśikārṇava***' में श्रीविद्यासाधना की कुलपरम्परा से दीक्षित साधिका डॉ. मैथिली सीतारमण ने इस प्रथित ग्रन्थ की विषय वस्तु को

समीक्षात्मक रूप में प्रस्तुत किया है तथा उसके आगमिक मन्तव्यों को सुस्पष्ट किया है एतदर्थ हार्दिक साधुवाद। यह आलेख शास्त्रीय विवेचन की प्रामाणिक प्रस्तुति करता है।

आठवें आलेख 'Thirty Six Tattvas' में प्रो. चमनलाल रैना ने शाक्त एवं शैव दर्शन में अङ्गीकृत मूलभूत छत्तीस तत्त्वों को शास्त्रीय आधार पर प्रतिपादित किया है। इनके ऊपर उन्होंने गम्भीर टिप्पणी लिखकर साधकों को उपकृत किया है। आचार्यवर को सादर नमन एवं अभिनन्दन।

अन्तिम आलेख 'Tripuropāsana in *Tripurārahasyam'* में श्रीविद्या की अष्टाङ्ग विशेषज्ञा श्रीमती गीता पद्मनाभन ने श्रीविद्यार्चना के क्रम का विवेचन *त्रिपुरारहस्य* ग्रन्थ के आधार पर प्रतिपादित कर महनीय कार्य किया है अत: सादर प्रणाम।

यह अङ्क न केवल अभूतपूर्व एवं महत्त्वपूर्ण सामग्री को साधकों के लिये उपलब्ध कराता है अपितु नई अनुसन्धानपरक रचनाओं के द्वारा तन्त्रशास्त्र की सार्वकालिक उपादेयता पर विचार करता है। हमें विश्वास है कि साधकवर्ग में इस अङ्क का भी यथापूर्व स्वागत होगा और यह उनके लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

जो साधक इस सारस्वत यज्ञ में लेख रूपी आहुति देना चाहते हैं, वे इमेल पर 'वर्ड डाकुमेन्ट' में भेज सकते हैं।

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा
सम्पादक
rajendrasharmauniraj@gmail.com

शब्द ब्रह्म की साधना का वैज्ञानिक स्वरूप

आचार्य गुलाब कोठारी

जो जहाँ से उत्पन्न होता है, वहीं जाकर मिल जाना चाहता है। अग्नि सूर्य से उत्पन्न होती है तो सदा सूर्य की ओर ही उठती है। समुद्र से निकला जल समुद्र की ओर ही बहता है। ब्रह्म का अंश जीव भी अन्ततः ब्रह्म में ही लीन हो जाना चाहता है। इसी ध्येय को लेकर साधक उपासना-जप-तप आदि को माध्यम बनाता है।

इष्ट-सिद्धि

जप में शब्द होता है। बीज मन्त्र होता है। शब्द में अक्षर होता है। अक्षर में ध्वनि होती है। ध्वनि में नाद होता है। वैखरी अथवा वाचिक स्थिति में वायु का प्रभाव सर्वाधिक होता है। कण्ठ अथवा विशुद्धि की भूमिका ही मूल में दिखाई पड़ती है। जैसे-जैसे वाचिक से उपांशु और मानस जप की ओर गति होती है, वायु का प्रभाव कम होता जाता है।

जप की गति के साथ एकाग्रता बढ़ती जाती है। जप हृदय (अनाहत) की ओर उतरता जाता है। श्वास-प्रश्वास भी धीमा होने लगता है। एक स्थिति ऐसी बनने लगती है जब श्वास-प्रश्वास अत्यन्त मन्द पड़ जाता है। ध्वनि समाप्त सी हो जाती है। इड़ा-पिंगला का मार्ग रुककर श्वास सुषुम्ना में प्रवेश कर लेता है। मध्यमा में वायु भी भीतर कार्य करती है। मन्त्र भीतर उच्चारित होता रहता है। मानस के सूक्ष्म धरातल पर उच्चारण की गति स्वयं स्फूर्त दिखाई पड़ती है। बिना प्रयास के भी जप का स्पंदन जान पड़ता है। जो शब्द और अर्थ वैखरी में अलग-अलग दिखाई पड़ते थे, वे एक होने लगते हैं। यह पश्यन्ती का क्षेत्र (मणिपूर) है। यहाँ अग्नि है, प्रकाश का क्षेत्र फूटने लगता है। साधारण व्यक्ति अभ्यास और एकाग्रता से इस स्थिति तक पहुँच सकता है।

जप को इष्ट सिद्धि का माध्यम कहा गया है। जप से शब्द वाक् को अर्थ वाक् में बदलने का ही तो प्रयोग किया जाता है। सरस्वती से ही लक्ष्मी की प्राप्ति, यह ऊर्जा का ही स्वरूप परिवर्तन है। एनर्जी और मैटर के अलावा विश्व में कुछ है ही नहीं। ये दोनों एक-दूसरे में रूपान्तरित हो सकते हैं—यह तो आज का विज्ञान भी मानता है।

सांसारिक जीव की दृष्टि भी छोटी होती है। वह सामने की स्थिति को ही देख पाता है और उसी के निवारण में लगा रहता है। मनीषी इससे आगे बढना चाहता है। उसके पास एक ही कामना होती है—ब्रह्म से

एकाकार हो जाना। वह जप से प्राप्त सिद्धियों में अटकता नहीं है। अटकना यानी फेल हो जाना। आप जिस कक्षा में फेल होते हों, वहीं अटके रहते हो। जिस सिद्धि को लेकर चमत्कार दिखाने लग गए, वहीं अटके रह जाओगे। अत: इन सिद्धियों को भी आगे जाने का माध्यम बनना पड़ता है।

जप का लक्ष्य

उपासना में भी जप का, माला का सबसे अधिक महत्व है। विश्व के अधिकांश धर्मों में जप का महत्व है। जप किसी न किसी मन्त्र का होता है। मन्त्रों का स्वरूप भी अधिकांशत: अनिर्वचनीय ही होता है।

जप का अभ्यास हर सर्व साधारण व्यक्ति कर सकता है। गुरु-दीक्षा का अर्थ मन्त्र में आस्था पैदा करना ही होता है। इससे जप में निरन्तरता बनी रहती है। गलती होने पर अनिष्ट का भय भी रहता है। जप का लक्ष्य इतना स्पष्ट है कि चिन्तन ही नहीं करना पड़ता। शास्त्र नहीं पढऩे पड़ते और व्यक्ति शब्द और ध्वनि के सहारे अनिर्वचनीय तक की यात्रा कर लेता है। बुद्धिमान् के मन में अनेक प्रश्न उठेंगे और एक भ्रान्ति की स्थिति भी बनी रहेगी। आस्था में प्रश्न उठते ही नहीं। व्यक्ति वैखरी से जप शुरू करता है।

यहाँ से आगे अनिर्वचनीय की यात्रा शुरू होती है। यह सारा वाक् का क्षेत्र है। इसका निष्कर्ष क्या यह नहीं कि लक्ष्मी की तरह सरस्वती भी माया का ही रूप है। लक्ष्मी की प्राप्ति के लिए सरस्वती रूप मन्त्रों का ही प्रयोग करते हैं। लक्ष्मी पूर्ण रूप से जड़ तत्त्व है। आवरण मात्र है। सरस्वती का वाक् क्षेत्र भी इसी प्रकार जड़ है। भाषा रूप में बन्द व्यक्ति की कल्पनाएँ हैं। सत्य नहीं है। सत्य सदा लक्ष्मी और सरस्वती के आगे है।

इसी प्रकार प्राणायाम के प्रयोग भी विकर्षण के पार ले जाने के लिए ही हैं। श्वास-प्रश्वास में ह-अ की ध्वनियाँ जुड़ी रहती हैं। अधिक शक्ति लगाने पर ये हुँ तथा उँ हो जाते हैं। सम्पूर्ण सृष्टि इन चार वर्णों पर टिकी है। भाषा के बिना किसी भी वस्तु को आत्मा में प्रत्यक्षवत् रखना संभव नहीं है। आत्मा में वस्तु की स्मृति कैसे रह पाएगी! नवजात शिशु अथवा अन्य प्राणियों में स्मृति का अभाव रहता है। भाषा के माध्यम से ही मनुष्य आत्मा को इन्द्रिय ग्राह्य विषयों से जोड़ पाया। भाषा के कारण विषय स्मृति बन जाते हैं। प्रत्येक वस्तु का एक संज्ञा-शब्द होता है। संज्ञा तो वास्तव में एक ध्वनि है। हम उसे वस्तु मान लेते हैं। 'आम' बोलने पर 'आम' की ध्वनि सुनाई नहीं देती। आम दिखाई देने लगता है। हम इसी काल्पनिक ज्ञान से घिरे हैं।

ध्वनि का उच्चारणकर्ता शरीर नहीं है। वह तो ध्वनि निकास का यन्त्र-मात्र है। कौन इस देह में छिपा है जो शरीर के योग से ध्वनि उच्चारण करता है। शरीर में एक क्रिया ऊपर की ओर उठती है, फिर नीचे जाती है। ऊपर-नीचे का यह क्रम निरन्तर चलता है। इस क्रिया के बने रहने पर ही कर्त्ता का अस्तित्त्व टिका है। क्रिया के परिवर्तन से कर्त्ता की अवस्था का परिवर्तन हो जाता है। क्रिया के अभाव में कर्त्ता का भी अभाव दिखाई पड़ता है। कर्त्ता अपनी इच्छा से इस क्रिया को रोक नहीं सकता।

क्रिया एवं ध्वनि

कर्त्ता का अस्तित्व पृथ्वी एवं आकाश पर टिका है। वायु-जल-अग्नि इसका पोषण करते हैं। जब कर्त्ता और क्रिया का एकात्म भाव हो जाता है, तब कर्त्ता ही क्रिया पर अधिकार कर लेता है। कर्त्ता की तलाश क्रिया के माध्यम से ही संभव है। क्रिया के अनुरूप ध्वनि पैदा होती है। हर क्रिया की एक ध्वनि होती है। जहाँ ध्वनि होती है, वहाँ क्रिया भी रहती है। कर्त्ता-क्रिया-ध्वनि सदा साथ रहते हैं। 'मैं' भी इस अहम् शब्द का वाच्य है। कल्पित शब्द नहीं है। सहस्रार से आरम्भ होकर मूलाधार पर्यन्त क्रिया के विस्तार द्वारा ही हमारी वर्णमाला गठित हुई है। इसके आगे बढ़ने की क्षमता मानव में नहीं होती। अत: मानव प्रकृति में जितनी ध्वनि संभव हैं, वे सब औ तथा (:) विसर्ग के मध्य ही हैं।

देह स्थित आकर्षण-विकर्षणात्मक क्रिया की मात्रा के भेदगत परिवर्तन से हमारी वर्णमाला का ध्वनि समूह विकसित हुआ है। इस क्रिया के परिवर्तन से ध्वनियों के भेद के साथ-साथ भावों में भी परिवर्तन होता है। जैसे कि क्रिया एवं ध्वनि में अभेद हैं, वैसे ही क्रिया एवं भाव में भी अभेद रहते हैं। भाव के अनुसार ही क्रिया होती है। मानव जो कुछ ज्ञान से समझता है, वह भी तो क्रिया की ही फल है।

उपासना के लिए सरलतम मार्ग है 'जप'। 'जप', अर्थात् किसी मन्त्र का बार-बार उच्चारण। जप किसी पूर्ण मन्त्र का हो सकता है तो किसी बीज मन्त्र का भी। किसी विशेष उद्देश्य से हो सकता है तो केवल धर्म के नाम पर भी। कई मन्त्र; जैसे—गायत्री, नमस्कार आदि अपने-अपने स्थान पर लोकप्रिय भी हैं। इनमें से बीज-मन्त्र गुरु द्वारा प्रदत्त दीक्षा के अन्तर्गत दिया जाता है जो समय के साथ अङ्कुरित होता हुआ कालान्तर में फल प्रदान करता है।

जप में शब्द का उच्चारण है, शब्द वायु से पैदा होता है। वायु हमारे शरीर का संचालन करता है। सृष्टि वर्ण के आधार पर बनी है। वर्णमाला वायु के आधार पर टिकी है। हम लोगों का चित्त सर्वदा नाना प्रकार के विकल्पों में फंसा रहता है, तरंगित होता रहता है। ये तरंगें भी वायु की हैं। इसी कारण चित्त में चंचलता बनी रहती है।

जप के स्पन्दन

जप में शब्द है। शब्द में अक्षर है। अक्षर में ध्वनि है। ध्वनि में नाद है। वाक् के चार धरातल होते हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। जो शब्द सुनाई देता है वह हमारी बोलचाल की भाषा वैखरी कहलाती है। जिस भाषा में जीभ नहीं हिलती, होठ भी नहीं हिलते, मुंह से कुछ ध्वनि नहीं होती, अर्थात् केवल मन में शब्द और चित्र बनते हैं वह मध्यमा कही जाती है। जप में जब मन्त्र का उच्चारण किया जाता है, तो वह वाचिक जप कहलाता है। जब केवल होठ हिलते हैं, शब्द का उच्चारण नहीं होता तो उसे उपांशु जप कहते हैं। इसके आगे जब मन एकाग्र हो जाता है और ध्वनि या शब्द का स्थूल रूप घट जाता है, तब जप मानसिक हो जाता है।

वाचिक जप में बाहरी वायु का प्रभाव सर्वाधिक होता है। उपांशु में कुछ कम होता है, एकाग्रता कुछ बढ़ जाती है। मानस जप में बाहरी वायु का प्रभाव नहीं रहता, एकाग्रता तीव्र होने लगती है। जप की शुरुआत वाचिक से होती है, किन्तु अभ्यास बढने के साथ श्वास-प्रश्वास धीमा होता जाता है और जप स्वयं उपांशु हो जाता है। जब श्वास की गति अत्यन्त मन्द हो जाए, ध्वनि समाप्त हो जाए, तो उपांशु जप अपने आप मानस जप में परिवर्तित हो जाता है। वाचिक और उपांशु जप में श्वास-प्रश्वास की क्रिया इड़ा-पिंगला के माध्यम से चलती है। जैसे-जैसे जप मानस में प्रवेश करता है, श्वास-प्रश्वास सुषुम्ना के जरिए चलने लगता है। वायु मध्यमा में कार्य करती है, अर्थात् मन्त्र भीतर ही उच्चरित होता रहता है। बाह्य जप में जहाँ ध्वनि उच्चारण के लिए प्रयास करना पड़ता है, वहाँ मानस के सूक्ष्म धरातल पर उच्चारण की गति स्वत: बनने लगती है। अभ्यास और तीव्र एकाग्रता के प्रभाव से जप सिद्ध होने लगता है और क्रमश: बिना किसी प्रयास के भी जप का स्पन्दन नित्य बना रहता है। इसको हमारे यहाँ 'अजपा जप' कहते हैं।

वैखरी में शब्द और अर्थ अलग दिखाई पड़ते हैं। मध्यमा में शब्द नाद में परिवर्तित होता है। मानसिक जप जैसे-जैसे आगे बढ़ता है। ध्वनि समाप्त हो जाती है, ज्योति स्वरूप दिखाई पड़ता है। पश्यन्ती में शब्द और अर्थ एक हो जाते हैं। चेतना का प्रकाश प्रकट होता है। मन्त्र सिद्धि और ईश-दर्शन का क्षेत्र है पश्यन्ती। कालान्तर में पश्यन्ती से परा में प्रवेश होता है। यहाँ आकर नाद बिन्दु में लीन हो जाता है। अर्थात् बिन्दु से उत्पन्न नाद, बिन्दु में ही लीन।

पण्डित गोपीनाथ कविराज लिखते हैं—'वर्णात्मक स्थूल शब्द के अन्तराल में नादात्मक चेतन शब्द को पहचान लेने पर जब वर्णगत सभी दोषों का उपसंहार हो जाता है तब चैतन्य ही मुख्य होता है। एकाग्रता के यही लक्षण हैं। इस अवस्था में वक्र वायु के तरंग नहीं रहते, केवल सरल गति रहती है। यह चैतन्य शक्ति की लीला है जो महामाया का सहारा लेकर रहती है।'

मन्त्र

जो मनन करने से त्राण करता है, रक्षा करता है उसे मन्त्र कहते हैं। मन्त्रों का मनन ही तन्त्र है और मन्त्रों का निश्चित स्वरूप में प्रयोग ही यन्त्र का निर्माण करता है। मन्त्र सात्त्विक, शुद्ध भावों का बोध कराता है, अत: आवरण हटाकर बुद्धि और मन को निर्मल करता है।

व्यक्ति को शुद्ध आनन्द भाव में स्थापित करता है। मन्त्र शब्दात्मक होते हैं। हर मन्त्र का अपना स्वर, अर्थ, छन्द और विनियोग होता है। इसके साथ ही इसका भाव चलता है। मन्त्र का जप एक ओर गति प्रदान करता है, वहीं दूसरी ओर, भाव से अर्थ का साक्षात्कार होता है।

तीन प्रकार के जप कहे गए हैं। जब मन्त्र में शब्दों का उच्चारण स्पष्ट सुनाई देता है तो उसको 'वाचिक जप' कहते हैं। जिसमें ध्वनि सुनाई नहीं पड़ती, केवल होठ हिलते हैं, कण्ठ का प्रयोग होता है तो उसको

'उपांशु जप' कहते हैं। जिस जप में केवल मन से ही अर्थ का ज्ञान प्रवाह रहता है, उसको 'मानसिक जप' कहते हैं। श्रेणी के अनुसार वाचिक से उपांशु और उपांशु से मानसिक जप को श्रेष्ठ माना गया है।

एकाग्रता

एकाग्रता के दो उपाय हैं—प्रथम उपाय है कि आप जिस इष्ट का मन्त्र जाप करते हैं, उसका एक चित्र मन में बना लें और मन्त्र का जाप उसी को समर्पित करते रहें, धीरे-धीरे चित्र स्वयं स्पष्ट होकर प्रकट होने लगेगा। दूसरा उपाय यह है कि आप मन्त्र के शब्दों को स्वयं भी सुनें। आप चित्त को शब्दों पर टिकाएँ और यह प्रयास करें कि आप प्रसन्नचित्त हैं, भाव निर्मल हैं और इष्ट के चरणों में समर्पित हो रहे हैं। अपनी अच्छी-बुरी सब प्रवृत्तियां, कार्य और परिणाम उनको समर्पित कर रहे हैं, निमित्त बन रहे हैं। कोई भी जप इस चित्त शुद्धि के बिना परिणाम नहीं ला सकता।

जैसे ही आप शब्दों पर, शब्दों के अर्थ पर ध्यान केन्द्रित करेंगे, आपकी एकाग्रता बढ़ने लगेगी। आपको पता चलता रहेगा कि आपका उच्चारण सही है। उच्चारण बदलने से प्रभाव भी बदल जाएंगे। कुछ ही समय में आपको आभास होने लगेगा कि आपके जप की ध्वनि मन्द होती जा रही है। आप शब्दों को सुनते रहिए, ध्वनि मन्द होते-होते आप उपांशु जप में प्रवेश कर लेंगे। श्वास की गति भी इसी अनुपात में मन्द पड़ जाएगी। यही अभ्यास कालान्तर में, एकाग्रता के अनुपात में, मानस का मार्ग प्रशस्त करेगा। आपको सुखद अनुभूति होगी।

इस कार्य में सर्वाधिक गति एकाक्षर बीज मन्त्रों से प्राप्त होती है। हर देवता का एक बीज-मन्त्र है। गुरु प्रदत्त बीज-मन्त्र श्रद्धा और अभ्यास से शीघ्र ही मानस-जप में परिवर्तित हो जाता है। जप उपासना का एक अति सरल क्रम है।

इसमें प्रवेश के लिए अलग से किसी ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। हर साधारण व्यक्ति के लिए उच्च स्तर तक पहुँचने का यह आसान मार्ग है। आवश्यकता है तो केवल तीव्र उत्कण्ठा की। समर्पित मनोयोग की।

जप का प्रभाव

जप के प्रभाव को समझने के लिए यह पर्याप्त है कि जप के शब्दों के बीच का अवकाश अभ्यास के साथ कम होता जाता है। धीरे-धीरे अवकाश के साथ शब्द व ध्वनि भी लीन होते जाते हैं। नाद रह जाता है। नाद भी इसी क्रम में आगे चलकर बिन्दु में जहाँ से उठता है, वहीं लीन हो जाता है। व्यक्ति केवल द्रष्टा की तरह देखता रहता है। जानता रहता है। प्रकाशित हो उठता है।

जप का मुख्य प्रभाव प्राण-धारा पर पड़ता है और साधक को पता भी नहीं चलता। वह केवल ध्वनि और शब्दों तक ही जान पाता है। प्राणों का स्पन्दन, अर्थात् प्रकृति की लीला। शरीर में प्राण-अपान-व्यान आदि पांचों स्थूल प्राणवायु रूप में कार्य करते हैं।

इड़ा-पिंगला से इनका व्यापार चलता है। जप के अभ्यास से व्यक्ति सूक्ष्म प्राणों के धरातल पर आता है। सुषुम्ना में केवल सूक्ष्म प्राण ही प्रवेश करते हैं। इड़ा-पिंगला तो स्वत: ही शिथिल हो जाती हैं।

शरीर की सारी गतिविधियाँ भी शिथिल हो जाती हैं। व्यक्ति स्थूल देह से सूक्ष्म देह में प्रवेश कर लेता है। सुषुम्ना में तीन सूक्ष्म नाडियाँ हैं—वज्रिणी, चित्रिणी और ब्रह्मा। इनमें जप से सूक्ष्म प्राणों का कार्य शुरू होते ही एकाग्रता बढ़ती जाती है, व्यक्ति अन्तर्मुखी होता जाता है। वह कारण देह की ओर अग्रसर होता है।

तन्त्र साहित्य में बीज मन्त्रों का विशिष्ट स्थान है। ईश्वर की आठ मुख्य प्रवृत्तियों के अनुरूप ही आठ प्रकार के बीज-मन्त्र होते हैं। इनमें ओंकार को शब्द ब्रह्म कहा गया है। बीजों में गुरु, शक्ति, रमा, काम, योग, तेजो बीज आदि के रूप में ऐं, ह्रीं, श्रीं, क्लीं, क्रीं, द्रीं, स्त्रीं, ह्लीं बीज मन्त्र प्रयुक्त होते हैं। बीजमन्त्र शब्दों के अर्थ से समझ में नहीं आ सकते। ये केवल जप से ही अपना अर्थ बताते हैं। इनके लिए उच्चारण का ज्ञान (ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत आदि स्वर) और पूरक मन्त्रों की सहायता उपयोगी सिद्ध होती है।

शब्द तत्त्व

मन्त्र और देवता का अभेद माना गया है। मन्त्रों के स्पन्दन और प्राणरूप देवता के स्पन्दनों में एकरूपता मानी गई है। शब्द रूप वाणी के चार धरातल हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। सृष्टि का कारण नाद या वर्ण या शब्द माना गया है। यहाँ शब्द की अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था होती है। मन्त्रों और बीजों का विकास इसी से माना गया है। जब विमर्श और प्रकाश की स्थूल अवस्था होने लगती है तब इसे नाद कहते हैं। ज्यों-ज्यों सृष्टि स्थूल रूप धारण करती है, त्यों-त्यों शब्द भी स्थूल रूप धारण करता है। परा से पश्यन्ती तथा मध्यमा से गुजरते हुए वैखरी बनता है।

महर्षि पाणिनि लिखते हैं—'तिरेसठ अथवा चौंसठ (मतभिन्नता के कारण) वर्णों को स्वयंभू ने पैदा किया है।' आत्मा बुद्धि के द्वारा अर्थों को लेकर मन के साथ बोलने की इच्छा करता है। मन शरीर की अग्नि में आघात करता है। इससे उत्पन्न प्रेरक शक्ति से वक्ष:स्थल में गम्भीर स्वर की उत्पत्ति होती है। कण्ठ से वैखरी रूप शब्द प्रकट होता है। यहाँ शब्द को परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी के रूप में समझा जा सकता है।

हमारे शास्त्रों में शब्द तत्त्व की विवेचना भी विस्तार से मिलती है। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के भेद से षड्ज, गांधार, मध्यम, पञ्चम, ऋषभ, धैवत और निषाद आदि स्वर उच्चारण में माने जाते हैं। नाद, बिन्दु और कला शब्द की अवस्था बताते हैं। मन्त्र के उच्चारण की रीति छन्द से तथा आविष्कर्ता का परिचय ऋषि से होता है। हर मन्त्र का एक देवता होता है, उसका बीज होता है, कीलक और शक्ति होते हैं। जो शक्ति साधक के लिए अवरोध पैदा करती है, उसके निवारण के लिए कीलक का प्रयोग किया जाता है।

मन्त्र द्वारा शक्ति का संचार होता है। अनेक प्रयोग इसको सिद्ध कर चुके हैं। मन्त्र को अर्थ के साथ भावपूर्वक देखना, भाव में धारण करना, संकलित करना ही विकास का मार्ग खोलता है। जप में अभ्यासपूर्वक वाचिक से उपांशु और आगे मानस में प्रवेश करना तो उचित है ही, इसके साथ ही सात्त्विक भावों के साथ लक्ष्य को चित्रित करना भी आवश्यक है। 'मैं स्वस्थ हो रहा हूँ', 'मैं आत्मिक स्वरूप तक पहुँच रहा हूँ, आत्मिक अनुशासन बढ़ा रहा हूँ' आदि लक्षित भाव साथ चलने चाहिए। प्रसन्नता और निर्मलता ही आह्लाद पैदा कर पाते हैं। समर्पण भाव से क्रिया शुरू की जाए और अन्त में जप को इष्ट को ही समर्पित कर दिया जाए, यही श्रेष्ठतम तप है। यदि इसके बदले कुछ पाने की इच्छा नहीं रहे तो यह बन्धकारक नहीं होता, अपितु बन्ध को काटता है। इष्ट को साधक की पात्रता मालूम है। वह बिना मांगे कुछ अधिक भी दे सकता है।

वाक्

वैज्ञानिक दृष्टि से स्पन्दन ही सृष्टि मूलक है। ये ही विभिन्न स्वरूपों का निर्माण करते हैं, विकास करते हैं। जप के द्वारा हम इस कार्य में इच्छानुसार स्पन्दन जोडऩे का प्रयास करते हैं और इच्छित दिशा में विकास कर पाते हैं।

सृष्टि आकाश से शुरू होती है। आकाश की तन्मात्रा है नाद। संपूर्ण आकाश में नाद व्याप्त है। नाद ही बिन्दु रूप लेता है। नाद ही स्वर और व्यंजन का रूप लेता हुआ शब्द सृष्टि करता है। व्यंजन योनि रूप हैं। इनसे अक्षर का निर्माण होता है। यह शब्द वाक् ही सरस्वती का क्षेत्र है। अर्थ वाक् का क्षेत्र लक्ष्मी का है। वाक् का स्वरूप परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी है। सारी वाक् के मूल अधिष्ठाता ब्रह्मा हैं।

सृष्टि निर्माण क्रम में वाक् की गति परा से शुरू होकर वैखरी तक होती है। हम जो शब्दों का उच्चारण करते हैं—उसे वैखरी वाक् कहते हैं। यह वाक् का स्थूल रूप है। मध्यमा-पश्यन्ती और परा इसके उत्तरोत्तर सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम स्वरूप होते हैं। वैखरी वाक् परा वाक् का ही विस्तार है। परा वाक् का स्थान है मूलाधार।

कामना

सृष्टि निर्माण की पहली आवश्यकता है कामना। बिना कामना के कोई कार्य नहीं हो सकता। जब मन में कामना पैदा होती है, तब परा वाक् में तरंगें उठती हैं। ये तरंगें पकड़ में नहीं आतीं। कामना के स्वरूप में भी अवगम, इहा, अवग्रह रहते हैं। अर्थात् कामना का पैदा होना ही काफी नहीं है, मन में इसकी स्वीकारोक्ति भी चाहिए। मन जब किसी कामना का अवग्रह कर लेता है, तब जाकर प्राणों में चेष्टा शुरू होती है। स्वयं कामना में किसी प्रकार की क्रिया नहीं होती।

कामना के साथ भावना जुड़ती है। यह वासना रूप भी हो सकती है। कामना का उद्देश्य और प्राणों की गति की दिशा भावना से तय होती है। कामना सकारात्मक है तो प्राणों की गति ऊर्ध्व होगी। मन, विज्ञान और आनन्द की ओर बढ़ेगा। नकारात्मक भाव मन को अधोगति में डालते हैं। प्राण-वाक् से जोड़कर बाहर की ओर मन बढ़ता है। भोग रूप जीवन का मार्ग प्रशस्त होता है।

भाव-भूमि में शब्द नहीं होते। शब्द चित्र होते हैं। यह पश्यन्ती का क्षेत्र है। शब्द स्थूल रूप है। ब्रह्म वाक् का स्थूल रूप है। अत: हमारे यहाँ शब्द को ब्रह्म कहा गया है। नाद सदा अव्यक्त होता है।

वर्ण ही व्यक्ति रूप है। इच्छा में शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा (अध्यात्म) जुड़ा रहता है। आत्मा, बुद्धि के द्वारा अर्थ समझकर मन के साथ बोलने की इच्छा से युक्त होता है। तब मन शरीर की अग्नि में आघात करता है (नाभि स्थान)। इससे वायु प्रेरित होता (हृदय स्थान) है और स्वर की उत्पत्ति करता है। कण्ठ से वैखरी रूप शब्द प्रकट होता है।

जाप में हम क्या करते हैं? शब्द से वायु और अग्नि को निकालते जाते हैं। अवकाश या आकाश को घटाते जाते हैं। एक स्थिति में जब दोनों समाप्त हो जाते हैं तब बिन्दु ही रह जाता है। यही सबसे बड़ा वैज्ञानिक तथ्य है। बिन्दु ही आत्मभाव है। आत्मज्योति रूप है। आगे केवल भावना का धरातल रह जाता है। प्रेम और आनन्द का भाव रहता है। विज्ञान भाव से व्यक्ति आनन्द भाव में प्रवेश कर जाता है। यही अन्तिम स्थिति है। क्योंकि जिस अव्यय पुरुष को हम आत्मा कहते हैं, उसकी पाँच कलाओं—आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण और वाक् में सबसे पहले आनन्द है। वहीं से सृष्टि शुरू होती है। अन्त में उसी में जीव पहुँच जाता है। मन केन्द्र में रहता है। जीवन काल में उसकी क्रियाएँ प्राण और वाक् से जुड़ी रहती हैं। उत्तरार्ध में ऊर्ध्वमुखी होकर विज्ञान और आनन्द की ओर मुड़ जाती हैं। मन्त्र जप इसका सरलतम प्रयोग है। इसमें किसी प्रकार की बौद्धिक क्षमता की आवश्यकता नहीं होती। केवल मन में दृढ़ इच्छा शक्ति चाहिए।

सृष्टि का कारक

हमारी सृष्टि का कारक ब्रह्म और माया को बताया गया है। ब्रह्म निष्क्रिय रहता है, माया गतिशील एवं क्रियाशील तत्त्व का नाम है। ब्रह्म को मैटर एवं माया को एनर्जी कहना होगा तीसरा कुछ होता ही नहीं। जैसे नर और मादा। ब्रह्म के दो अर्थ कहे गए हैं। एक-जो निरन्तर फैलता रहे, उफनता रहे वह ब्रह्म है। जैसे हमारे विचार। दो-पालक-पोषक हो, धारक हो वह ब्रह्म। सृष्टि के शुरू में जब कुछ नहीं है, केवल आकाश है, वहीं ब्रह्म का विस्तार या विवर्त होता है। विवर्त का अर्थ निरन्तर परिवर्तनशील क्रिया का नाम ही है। एक चीज नष्ट होकर दूसरी चीज में बदल जाती है। आत्मा एक शरीर को छोडक़र दूसरा शरीर धारण कर लेता है। सृष्टि में नष्ट कुछ नहीं होता। शून्य से आकाश से सारी सृष्टि का निर्माण हुआ है। अत: सब जगह उसी का अंश मौजूद है। आप किसी भी एक तत्त्व को पकडक़र गहरे में उतर जाएँ तो ब्रह्म के स्वरूप तक पहुँच जाएंगे। माया की गति को पकडऩा मुश्किल काम है। कहते भी हैं कि जो समझ में नहीं आए वही माया है।

मानव बुद्धि और बल में अन्य प्राणियों से निर्बल हो सकता है, किन्तु अपने चिन्तन को मूर्तरूप देने में सक्षम है। इसीलिए उसे ईश्वर में आसानी से विश्वास नहीं होता। वह स्वयं ईश्वर बन जाना चाहता है। लेकिन उसका मन है कि उसकी सुनता ही नहीं है। वह मन के वश में जीता है। मन को 'स्वयं' मानकर जीता है। अत: स्वयं से परिचित नहीं हो पाता। मन ही साधन के बजाय साध्य बन जाता है। पर वह शरीर को, स्वयं को जान सकता है। ब्रह्म तक पहुँच सकता है। वह मन्त्र का, ध्वनि का सहारा लेता है। ध्वनि भी वहीं से निकलती है। वहाँ पहुँच सकती है। शब्द रूप में नित्य हम इसका उपयोग करते हैं।

शब्द

किसी भी भाषा का आधार है—शब्द। भाषा ही आदान-प्रदान का आधार है। इसका एक ही अर्थ है—शब्द ही जीवन का आधार है। शब्द ही विचार है, विचारधारा है, संस्कृति है। हमारा दर्शन इससे भी एक कदम आगे की बात करता है। शब्द ब्रह्म है। दर्शन यह भी कहता है—'**अहं ब्रह्मास्मि**।' तो क्या शब्द हमारा पर्याय है? क्या समानता है मुझमें और शब्द में? दोनों ही ब्रह्म कैसे हैं? क्या हर भाषा का शब्द ही ब्रह्म होगा? लगता तो यही है।

हमारा शरीर मानव निर्मित है। आत्मा का घर है। आत्मा न तो मरता है, न ही उसे पैदा किया जा सकता है। शरीर की तरह शब्द भी मानव निर्मित ही है। प्रकृति ने शब्द नहीं दिए। कोई नाम नहीं दिया। भाषा नहीं दी। अक्षर भी नहीं दिए। केवल ध्वनियाँ मात्र है। सृष्टि में नर और नारी रूप युगल तत्त्व हैं। अक्षरों में स्वर और व्यंजन रूप युगल तत्त्व हैं। बिना स्वर के कोई व्यंजन अक्षर नहीं बन सकता है। इनके आगे का विस्तार सृष्टि कहलाती है। अर्थ सृष्टि और वाक् सृष्टि। इनके पूर्व में जो कुछ छिपा है वह आत्मिक भाव है। ये मरता नहीं है।

हमारा पूरा शरीर अक्षरों से बना हुआ है। हर चक्र पर वर्णमाला के अक्षरों का संकेत स्पन्दन की गति को इंगित करता है। मन्त्रों को अभ्यास करते-करते शरीर मन्त्र बन जाता है। मन्त्र ध्वनि स्वत: निकलने लगती है। मन्त्र के सहारे व्यक्ति मध्यमा और परा तक की यात्रा कर लेता है। मन्त्र प्रकट हो जाता है। कोई न कोई सिद्धान्त तो होना ही चाहिए जो मन्त्र की ध्वनि और शरीर के स्पन्दन के बीच सेतु का कार्य करे और अन्त में दूरी को पाटकर दोनों को एकाकार कर दे।

मनुष्य के अध्यात्म में शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा होते हैं। शब्द के अध्यात्म में शब्द, अक्षर, ध्वनि और विचार होते हैं। शरीर और शब्द दोनों परिचयात्मक है। स्थूल है। शरीर के साथ नाम, रूप, रंग, जाति, धर्म, देश आदि जुड़ जाते हैं। इसी तरह शब्द के साथ भी रूप और अर्थ जुड़ जाते हैं। विषय का स्वरूप जुड़ जाता है। हम शब्द को पकड़ कर रूप की चर्चा में चले जाते हैं। शब्द को छोड़ देते हैं। ओशो ने इसका एक अच्छा उदाहरण दिया है। एक शब्द है राम। कोई राम को गाली देकर देखे। हम शब्द छोडक़र राम में उलझ जाएंगे। वैसे राम एक शब्द ही है और वह भी हमारा बनाया हुआ है। राम के साथ जोड़ी हुई पहचान भी

मानव निर्मित है। मूल में तो राम एक तरह की ध्वनि ही है। भारत में इस ध्वनि के लिए राम शब्द का उपयोग होता है। हर भाषा में इस ध्वनि का अपना अर्थ होगा।

अक्षर सृष्टि

हमारी सृष्टि अक्षर सृष्टि कहलाती है। भाषा भी अक्षर सृष्टि ही है। जिस प्रकार हमारी सृष्टि में कुछ भी नष्ट नहीं होता, वैसे ही अक्षर को फिर से व्यंजन नहीं बनाया जा सकता। हमारे अक्षरों का निर्माण ध्वनियों पर ही आधारित है। मन्त्रों का भी अर्थ नहीं किया जा सकता। बीज मन्त्रों का भी भाव अर्थ नहीं किया जा सकता। ये भी ध्वनि समूह है और स्पन्दन की गति के अनुरूप शरीर के स्पन्दन को प्रभावित करते हैं। स्पन्दन ही दोनों के अस्तित्त्व का आधार है। हर शब्द के मूल में अक्षर विज्ञान है। हर अक्षर के मूल में ध्वनि है। और यह भी आवश्यक नहीं है कि हर ध्वनि का अर्थ स्पष्ट ही हो।

व्यक्ति विचारों के सहारे बड़ा नहीं होता। विचार-विमर्श किसी निर्णय पर नहीं पहुँचता। निर्णय केवल प्रयोग से आते हैं। विज्ञान प्रयोग पर टिका है। बाहरी तत्त्वों पर उपकरणों की सहायता से प्रयोग करता है। धर्म भी प्रयोग पर टिका है। व्यक्ति स्वयं उपकरण हो जाता है। भीतर का प्रयोग करता है। दर्शन प्रयोग नहीं करता। केवल बातें करता है। परिणाम शून्य रहता है। हमारा सम्पूर्ण मन्त्र शास्त्र ही ध्वनि के प्रयोगों का परिणाम है। भले ही ध्वनियाँ हमारी समझ में न आएं। किसी मन्त्र का अर्थ दिखाई न दे, किन्तु परिणाम हमारे सामने होते हैं। हमारे सभी ऋषि यह भी कहते हैं कि ध्यान में बाहरी ज्ञान और दूसरों के अनुभव सहायता नहीं कर सकते।

हमारे विचार भी ध्वनियों का समूह ही हैं। हमारे प्राणों की गतिविधियों पर आधारित हैं। प्राणों के बारे में हम क्या समझ पाते हैं। न ही विचारों का भावनात्मक पहलू हम देख सकते हैं। अनुभव किया जाता है और स्वीकारा भी जाता है। उसे नकार नहीं सकते। मन की इच्छा को नकार नहीं सकते जिसके कारण विचार उठते हैं। मन के मूल में कामना रहती है। ध्वनि के मूल में भी कामना रहती है। ये हमारे मूल भावों के अनुरूप प्रकट होती है। इसी के अनुरूप शब्द ध्वनित होता है। एक ही शब्द अलग-अलग भावों में अलग-अलग स्वर से उच्चारित किया जाता है। ध्वनि के भी अर्थ बदल जाते हैं और शरीर की क्रियाएँ भी।

ध्वनियाँ

एक बात और महत्वपूर्ण है। ध्वनि सदा नाभि से उठती है। यह विसर्ग अथवा व्यंजन का क्षेत्र कहा जाता है। यही विसर्ग कण्ठ में जाकर आकार से मिलता है-अक्षर बनता है। इसे पुन: विसर्ग नहीं बना सकते। हमारा शरीर भी नाभि के माध्यम से ही तैयार होता है। मां के पेट में नाभि से जुड़ा रहता है। उसका सारा ज्ञान ध्वनि के माध्यम से ही अर्जित होता है। अत: नाभि ही ध्वनियों का उद्गम केन्द्र है। सारी ध्वनियाँ नाभि में आकर ही मिलती हैं।

यह एक सूत्र है। ध्वनियाँ प्राकृतिक होती हैं। शब्द तो निर्मित किए जाते हैं। अत: वे नाभि तक नहीं पहुँच पाते। मस्तिष्क से निकलते हैं और वहीं जाकर मिलते हैं।

हम शब्दों के सहारे जीते हैं। उनकी जो ध्वनियाँ निकलती हैं उनको नहीं जान पाते। तब शब्द-ब्रह्म कैसे समझ में आएगा। ॐकार की ध्वनि का कई प्रकार से अभ्यास कराया जाता है ताकि इसके स्पन्दन नाभि में अनुभव किए जा सकें। विभिन्न मंत्रोच्चार के माध्यम से शब्द और ध्वनियों को समझाया जाता है। जड ध्वनियाँ भी इस ज्ञान में सहयोगी होती हैं। घंटा, झालर जैसी तरंगित ध्वनियाँ भी शरीर में अपना मार्ग प्रकट करने में सहायक होती हैं। इस प्रकार शरीर के भीतर होने वाले अनाहत नाद को अनुभव करके भी ध्वनि का यात्रा मार्ग अनुभव किया जा सकता है।

एक बात निश्चित है। जो कुछ अपने आप घटित होता है, वही प्राकृतिक है। प्रयत्न हमारे होते हैं। प्रयत्न से भीतर की समझ प्राप्त नहीं हो सकती। स्वयं को सभी प्रयत्नों से, विचारों से मुक्त करना आवश्यक है। सारा ज्ञान व्यक्ति बाहर से ही बटोरता है। सारे प्रयत्न बाहर के लिए उपयोगी होते हैं।

सारे प्रयत्न का केन्द्र मन है। वहाँ स्मृति और कल्पना का ही आधार रहता है। अतीत और भविष्य में भटकता है। वर्तमान खो जाता है। प्रयत्न एक गतिविधि है। भीतर जाने के लिए बाधा बन जाता है।

जो भीतर है उसे प्रकट करना हमारा लक्ष्य है। इसके लिए मार्ग बनाना पड़ेगा। जो भीतर है उसे खाली करना पड़ेगा। विचार करना ही यथार्थ का मार्ग छोडऩा है। शब्द जाल में उलझना है। इसे शान्त करना पहली आवश्यकता है।

बिना भाव के कामना नहीं उठती। हर कामना के पीछे कोई भाव होता है। कुछ अच्छा या बुरा करने का, कुछ बनने का। इसी तरह हर ध्वनि के पीछे या साथ भी एक भाव रहता है। शब्द की, ध्वनि की आवश्यकता क्यों पड़ती है। किसी अभिव्यक्ति के लिए। अभिव्यक्ति होती है इच्छा की, कामना की। इच्छा के पीछे कोई कारण रहता है। कोई निमित्त रहता है। कोई संयोग होता है। ऋणानुबन्ध होता है। यही तो मन को इच्छापूर्ति के लिए प्रेरित करते हैं।

कोई न कोई परिणाम लक्षित होता है। हित अहित का कोई भाव रहता है। यह भाव ही परिणामों की दिशा तय करता है। व्यक्ति को ऊर्ध्वगामी या अधोगामी बनाता है। भाव आत्म प्रवृत्त होता है। मन का संचालन करता है। मन और आत्मा को जोड़ता है। भावशून्यता के कारण व्यक्ति को मन ही अपना रूप जान पड़ता है। आत्मा गौण नजर आती है। भाव ही व्यक्ति और ध्वनि का मूल धारक है। दोनों का स्वरूप एक जान पड़ता है। ब्रह्म स्वरूप।

भाव

परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी हमारी वाक् का स्वरूप है। भाव क्षेत्र परा क्षेत्र है। अति सूक्ष्म है। इसी को समझने के लिए मन्त्रों का सहारा लिया जाता है। पहले मन्त्रों की उच्चारण ध्वनि का अभ्यास किया जाता है। वाचिक जप रूप में। धीरे-धीरे ध्वनि को आत्मसात् करने का प्रयत्न किया जाता है। उपांशु रूप में। मानस जप में ध्वनि शरीर का अङ्ग बन जाती है।

प्रयत्न पीछे छूट जाते हैं। कान में पडऩे वाली हर ध्वनि को इस स्तर तक अनुभव किया जा सकता है। ध्यान की लगभग सारी विधियाँ यहीं आकर मिलती हैं। यहाँ से आगे सबका मार्ग एक हो जाता है। ध्वनि के आत्मसात् होते ही उसके भाव स्पष्ट लगेंगे। घर के किसी पालतू जानवर अथवा पेड़-पौधों से कैसे बातचीत की जा सकती है? शब्द तो वहाँ काम नहीं आ सकते और ध्वनियाँ हम समझ नहीं सकते। केवल भावों के सहारे ही अभिव्यक्ति हो सकती है। तभी मित्रता संभव है इनसे।

अबोध बालक के साथ भी तो ऐसे ही व्यवहार किया जाता है। जो मां ध्वनियों को नहीं समझती वह बच्चे की अभिव्यक्ति कैसे समझ सकती है? मातृत्व बोध ही स्त्रियों की सर्वोच्च शक्ति का आधार है। आसानी से भावों तक पहुँच सकती है—ध्वनि के पार। शर्त ये है कि वे शब्दों को न पकड़ें, ध्वनि और भाव तक पहुँचें। नहीं तो बच्चे को कैसे संभाल पाएंगी।

पुरुष के लिए तो यह अत्यन्त कठिन कार्य है। बुद्धिजीवी और तर्क प्रधान होने के कारण बढ़ ही नहीं पाता। इनका मन और भाव क्षेत्र कमजोर होता है। मन के जैसी मिठास बुद्धि में नहीं होती। मन शब्दों में अटका रहता है। अहङ्कार के कारण अस्तित्व बोध से दूर रहता है। इसके लिए ध्वनियों से भी पार जाना पड़ेगा। मन के भी पार जाना पड़ेगा। मन और आत्मा एक नहीं है। हम एक मानकर जीते हैं। आत्म भाव में जाने के लिए मन को छिटकना आवश्यक है। मन को छिटकाने के लिए मन को ही नाव बनाना पड़ता है। स्त्री की तरह पुरुष को भी अपने नारीत्व का विकास करना होता है। मन में प्रेम, दया, करुणा, वात्सल्य जैसे मधुरभाव विकसित करने पड़ेंगे। मन की इच्छाओं को छोडक़र भाव क्षेत्र में उतरना पड़ेगा। और आत्म भाव में प्रवेश हो जाएगा। भक्ति मार्ग यही है। ध्वनि को भी यदि मानस जप में बदल दें तो वह भी भक्ति भाव से जुडक़र आत्म प्रकाश तक पहुँचा देती है। स्वयं प्रकाश में बदल जाती है।

ध्यान

ध्यान में भी यही सिखाया जाता है। पहले शरीर को साधो ताकि इसके कारण ध्यान भंग न हो। स्थिरता का एक अभ्यास किया जाता है। फिर विचारों के प्रवाह को रोकने का। इसके आगे मनोभाव पर नियन्त्रण करना सिखाया जाता है। एक-एक करके हम खाली होते जाते हैं। जो कुछ सीखा या अनुभव किया उसे छोड़ते जाते हैं। शून्य तक पहुँचना होता है। सहज रूप से पहुँचना होता है। प्रयत्न किए बिना।

अभ्यास करते-करते एक स्थिति ऐसी आ जाती है जहाँ प्रयत्न छूट जाते हैं। 'शब्द ब्रह्म' और **अहं ब्रह्मास्मि** यहाँ आकर एक दिखाई पड़ते हैं। इसके पहले नहीं।

वैसे भी सृष्टि का मूल तो एक ही है। आगे चलकर सृष्टि दो श्रेणियों में बंट जाती है। अर्थ वाक् और शब्द वाक् रूप में वाक् का विस्तार होता है। शब्द वाक् सरस्वती का क्षेत्र बनता है और अर्थ वाक् लक्ष्मी का। शब्द वाक् से अर्थ वाक् की उत्पत्ति की जा सकती है। वाक् कभी भी नष्ट नहीं होती। ऊर्जा रूप होती है।

रूप बदलते हैं। विज्ञान भी इस तथ्य को स्वीकार चुका है। एनर्जी और मैटर के अलावा और कुछ है ही नहीं। हम चाहे शरीर को पकडक़र आगे बढ़ें अथवा शब्द को, पहुँचेंगे एक ही जगह। **अत: शब्द भी ब्रह्म है और जगत् भी ब्रह्म का ही विवर्त है।**

विज्ञान का एक और महत्वपूर्ण सिद्धान्त है कि ध्वनि और प्रकाश भी भिन्न नहीं हैं। ध्वनि की ही भिन्न-भिन्न तरङ्गों का घनीभूत रूप प्रकाश है। जब कुछ नहीं था—अन्धकार था, व्योम था। आकाश की तन्मात्रा नाद होती है अर्थात् वहाँ नाद भी था। भले ही अनाहत नाद था।

नाद में स्पन्दन होता है। स्पन्दन का नाद होता है। स्पन्दन में गति भी संभव है। स्पन्दन प्राणों अथवा ध्वनि का होता है। इसी स्पन्दन से प्रकाश का प्रादुर्भाव होता है। यह ध्वनि अथवा प्रकाश घनीभूत होकर भिन्न-भिन्न स्वरूप धारण करता है। यहाँ तक कि हमारा शरीर भी घनीभूत प्रकाश कहा जा सकता है। इसी शरीर के चारों ओर हमारा प्रकाश—आभा मण्डल—फैला रहता है।

भक्ति भाव में यही शरीर तरल-विरल भाव में आता है। मन्त्रों के स्पन्दन से भी शरीर और मन प्रभावित होते हैं। प्रकाश का फैलाव बढ़ता जाता है। एक स्थिति में जाकर मूल प्रकाश में लीन हो जाता है। ध्वनि से शब्द और शरीर रचना सिद्ध कर देती है कि दोनों ही ब्रह्म स्वरूप हैं।

प्रधान सम्पादक
राजस्थान पत्रिका समूह,
केशरगढ़, जयपुर (राजस्थान)

द्वैतवादी शैवागमों की शिवतत्त्व दृष्टि

प्रो. शीतलाप्रसाद पाण्डेय

भारतीय चिन्तन तथा साधना के दो आधारभूत स्रोत हैं, जो निगम, आगम अथवा तन्त्र के नाम से प्रख्यात हैं। दोनों ही परम्पराओं में भक्ति, ज्ञान तथा उपासना स्रोतस्विनी अनादिकाल से अविच्छिन्न रूप में प्रवाहित हो रही है और आज भी उसी से साधनालोक को नित्य नयी दिखाएँ प्राप्त होती हैं। *महाभारत* का अभिमत है कि श्रुति-सम्मत प्रमाणों का विचार तथा आगमानुमोदित मङ्गलमय साधनों का अनुष्ठान करने से मनुष्य जरा-मृत्यु के भय से रहित होकर सुख से सोता है—

श्रुतिप्रमाणागममङ्गलैश्च शेते जरामृत्युभयादभीत:।[1]

स्वामी करपात्री जी ने 'निगम' की परिभाषा करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि "सम्प्रदायाविच्छिन्ने सति अस्मर्यमाणकर्तृकत्वं निगमत्वम्"—अर्थात् जिस वाणी या ज्ञानधारा की परम्परा अनादिकाल से अविच्छिन्न रूप से चली आ रही हो तथा जिसके कर्त्ता का स्मरण न हो वही निगम है।[2] कुछ संशोधन के साथ यही परिभाषा आगम के ऊपर भी चरितार्थ होती है। आगम भी अविच्छिन्न परम्परा से प्राप्त होते हैं, किन्तु इसके कर्त्ता के विषय में विभिन्न मान्यताएँ हैं। नैयायिक सामान्य पुरुष के द्वारा वेद की संरचना को असम्भव मानते हुए उसे भी ईश्वर रचित ही मानता है तथा पुरुष शब्द का अर्थ अलौकिक पुरुष या सर्वशक्तिमान् ईश्वर करता है।

माना यह गया है कि वेद औपौरुषेय है, जबकि आगम पौरुषेय है। पुरुष विभिन्न प्रवृत्तियों के कारण 'ऋजु' अथवा कुटिल अनेक मार्गों से अपना लक्ष्य प्राप्त करता है,[3] अत: कभी-कभी वह दृष्ट रूप में वेद के विरुद्ध भी चला जाता है, साधक निरन्तर अभ्यास से स्वयं ही समाधान करता है और इसी अवस्था में उसे विरुद्ध भी जान पड़ता है, किन्तु आध्यात्मिक धरातल अथवा मानसिक पृष्ठभूमि में निगम तथा आगम दोनों में कोई भेद नहीं है। दोनों ही शिष्य-परम्परा से समन्वागत होते हैं। एक श्रुतिपरम्परा से प्राप्त है, और दूसरा प्रयोगात्मक विधि से।

वाराहीतन्त्र में सात लक्षणों से युक्त क्रियाओं को आगम माना गया है।[4] देवसूरि ने आगम का तात्पर्य देते हुए कहा है—"**आप्तवचनाद् आविर्भूतमर्थसंवेदनमागम:।**"[5] अर्थात् किसी आप्त पुरुष द्वारा अर्थ विशेष का परिज्ञान कराने वाले ज्ञान का नाम आगम है। यहाँ आप्त पुरुष का अभिप्राय है स्वदृष्ट ज्ञान का उपदेशक,

क्योंकि *सांख्यसप्तति* की *जयमङ्गला* टीका में कहा गया है कि रागद्वेष से रहित अपने कर्म में लगे हुए अजातशत्रु तथा सज्जनों द्वारा पूजित व्यक्ति को ही आप्त कहते हैं—

स्वकर्मणाभियुक्तो यः रागद्वेषाविवर्जितः।
निर्वैरः पूजितः सद्भिराप्तो ज्ञेयः स तादृशः।।[6]

इसमें 'स्वकर्मणाभियुक्तो' शब्द महायान बौद्धधर्म के 'महायानार्थकोविदम्' विशेषणधारी कल्याणमित्र की भाँति है। *चरकसंहिता* में उद्घोषित है कि जिनका सर्वविषयों में तर्करहित, निश्चयात्मकज्ञान रहता है, जो त्रिकालदर्शी है, जिनकी स्मरणशक्ति कदापि नष्ट नहीं होती हो, जो रागद्वेष के वश में नहीं होते तथा जो पक्षपातशून्य हैं, वे ही आप्त हैं।[7] इन वाक्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि निगम का व्यवहार पक्ष ही आगम है।

'आगम' शब्द की संयोजना के सन्दर्भ में जो अति प्रसिद्ध श्लोक है, वह इस प्रकार है—

आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजाश्रुतौ।
मतं श्रीवासुदेवस्य तस्मादागम उच्यते।।[8]

इसका अर्थ यह है कि भगवान् वासुदेव के सिद्धान्त किंवा अभिमत के वक्ता भगवान् शिव हैं तथा श्रोता भगवती पार्वती है। आगतं पद का 'आ' गतं पद का 'ग' और 'मतं' पद का 'म'—इन तीन अक्षरों के संयोग से 'आगम' शब्द बना है। इस दृष्टि से आगम के मुख्यतः तीन भेद हैं—

(1) शैवागम, (2) शाक्तागम, (3) वैष्णवागम।

शैवागम परम्परा में भगवान् सदाशिव की प्राधान्येन आराधना-उपासना होती है। भगवान् शिव से सम्बद्ध होने के कारण ही ये आगम शैवागम कहलाते हैं। शैवागम मुख्यतः—भेदप्रतिपादक, भेदाभेद-प्रतिपादक तथा अभेदप्रतिपादक—तीन रूपों में प्रविभक्त हैं, इन्हें क्रमशः शिव, रुद्र तथा भैरव के संज्ञा से विभूषित किया गया है।[9] गणेशसहस्रनाम में—'**शैवं पाशुपतं कालामुखं भैरवशासनम्**'[10] शिवागम-भेद निर्दिष्ट हैं। माहेश्वरसम्प्रदाय में अनेक अवान्तर भेद हैं। धर्म-दृष्ट्या इनके चार भेद हैं—पाशुपत, शैव, कालामुख तथा कापालिक, जिनके मूलग्रन्थ शैवागम के नाम से अभिहित हैं। दार्शनिक दृष्टि से चार भेद हैं—पाशुपतदर्शन-(जिसका प्राबल्य गुजरात तथा राजपूताना में था), शैवदर्शन-(तमिल देश में), वीरशैव-(कर्नाटक) तथा प्रत्यभिज्ञादर्शन या त्रिक या स्पन्द-(कश्मीर)। नाथ-दर्शन के प्रमुख आचार्य-साधक प्राधान्य रूप से शैव थे। न्याय-वैशेषिक-साधना भी पहले शैव योग की ही थी।[11] ये सभी शास्त्र शिव से समुत्पन्न हैं तथा शैव महाभाव रूपी जीवन्मुक्ति का महाफल प्रदान करने वाले हैं—

यतः शिवोद्भवाः सर्वे शिवधामफलप्रदाः।[12]

शैव भावना की प्राचीनता प्राग्वैदिक अतीत में प्राप्त है। मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा के ऐतिहासिक उत्खननों से प्राप्त नाना सामग्रियों से इस भावना का मूल निर्विवाद प्रमाणित है।

शैवमत अत्यन्त प्राचीन तो है ही साथ ही इसका व्यापक प्रभाव भारत के धर्म, दर्शन, साहित्य, कला, पर्व, उत्सव, लोकगीत तथा लोकव्यवहारों में दिखलाई पड़ता है। भगवान् शिव के चरित की विविध विशेषताओं का उद्गम वेदों, ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों, इतिहास-पुराणों तथा विभिन्न भाषाओं के आगमों में परिलक्षित होता है। सम्पूर्ण भारत-भूमि में समय-समय पर नाना स्थानों पर विभिन्न रूपों में शैव चिन्तन का विकास हुआ। भगवान् आशुतोष अपने भक्तों तथा प्राणिमात्र की कल्याण-कामना से उन पर अनुग्रह करते हुए विभिन्न तीर्थों में द्वादश-ज्योतिर्लिङ्ग सदा विराजमान रहते हैं, *शिवपुराण* के अनुसार ये निम्नवत हैं—

सौराष्ट्रे सोमनाथं च श्रीशैले मल्लिकार्जुनम्।
उज्जयिन्यां महाकालमोङ्कारेऽममलेश्वरम्।।
केदारं हिमवत्पृष्ठे डाकिन्यां भीमशङ्करम्।
वाराणस्यां च विश्वेशं त्र्यम्बकं गौतमीतटे।।
वैद्यनाथं चिताभूमौ नागेशं दारुकावने।
सेतुबन्धे रामेशं घुश्मेशं शिवालये।।
द्वादशैतानि नामानि प्रातरुत्थाय यः पठेत्।
सर्वपापविनिर्मुक्तः सर्वसिद्धिफलं लभेत्।।[13]

भारतवर्ष में पारम्परिक रूप से शैव-केन्द्रों को पाँच समूहों में विभाजित किया गया है— गुह्य (Secret), गुह्यातिगुह्य (Secret and beyoud), अतिगुह्य (exceeding secret), पवित्र (Sacred) तथा स्थाणु (Enduring)। प्रत्येक समूह में शिव के आठ नामों की सूची है जो निम्नवत है—

अमरेशं प्रभासं नैमिषं पुष्करं तथा।
आषाढी दण्डमुण्डि च भारभूति भवन्तिकम्।
लकुलीशश्च विख्याता गुह्याष्टकमुदाहृतम्।।

श्रीपर्वतो हरिश्चन्द्रो जल्प्यमन्त्रादिकेश्वरम्।
मध्यमेशं महाकालं केदारं भैरवं तथा।
एतद् गुह्यातिगुह्यं च त्वष्टकं परिकीर्तितम्।।

गया चैव कुरुक्षेत्रं नाखलं नखलं तथा।
विमलं चाट्टहासं च महेन्द्रं भीममष्टकम्।
अतिगुह्याष्टकं नाम सर्वपापप्रमोचनम्।।

छगलण्डं द्विरण्डं च माकोटमण्डलेश्वरः।
कालाञ्जनं शङ्खकर्णं स्थूलेश्वरस्थलेश्वरौ।
पवित्राष्टकमित्येतन्महापुण्यविवर्धनम्।।

वस्रापदं रुद्रकोटिरमुक्तं महालयम्।
गोकर्णं भद्रकर्णं च वर्णाक्षं चातिदीप्तिमान्।।
स्थाण्वीश्वरं च विख्यातं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्।
स्थानाष्टकमिदं ज्ञेयं रुद्रक्षेत्र महोदयम्।।[14]

महाभारत तथा पुराणों में शिवोपासना का सर्वप्रमुख अङ्ग लिङ्ग-पूजा है। लिङ्ग के मौलिकस्वरूप के सन्दर्भ में विद्वानों ने बहुत कुछ लिखा है।[15]

ईशानशिवगुरुदेवपद्धति में शिव की महिमा बताते हुए कहा गया है कि—

सर्वकर्त्रा शिवेनोक्तं शास्त्रं मुख्यं हि सर्वथा।
स हि मायादि भूम्यन्तविश्वकार्यस्य कारणम्।।
शिवः कर्त्ता विकर्ता च प्रमाणत्रयगोचरः।
अस्त्येकः स शिवः कर्त्ता ह्यपरेभ्यो विलक्षणः।।
योगिप्रत्यक्षतः सिद्धश्चानुमानागमैरपि।। [16]

पुनः इसी ग्रन्थ में आगमों की विश्वसनीयता प्रमाणित करते हुए पर तथा अपर भेद का निर्देश है—

स शिवः स्वमुखोद्भूतैरागमैस्तु परापरैः।
अनुगृह्णाति हि जगत् भोगमोक्षप्रसिद्धये।।
परैः शैवादिभिर्दिव्यैरागमैः पाशमोचकैः।
अपरैरपि वेदाद्यैरागमैः स्वमुखोद्गतैः।।
स्वर्गादिफलसिद्ध्यर्थं पशुज्ञानप्रकाशकैः। [17]

दो प्रकार के आगमों का निर्देश करते हुए पर का तात्पर्य शिवज्ञान तथा अपर से पशुज्ञान बताया गया है। शिवज्ञान के अन्तर्गत आने वाले आगमों की सूची निम्न है—

शैवागमस्य भेदाः स्युः प्रथमं कामिकादयः।
ततश्चाष्टादशविधा भेदाः स्युर्विजयादयः।।
कामिकं योगजाचिन्त्यकारणान्यजितं तथा।
दीप्तं सूक्ष्मं सहस्रं चाप्यंशुमान् सुप्रभेदकम्।।

शिवभेदसमाख्यानि तन्त्राण्येवं दश क्रमात्।
विजयं चैव निःश्वासं प्रोद्गीतं पारमेश्वरम्।।
आग्नेयं मुखबिम्बं च स्वायम्भुवमतः परम्।
रौरवं माकुटं चैव किरणं लम्बितं तथा।।
चन्द्रज्ञानं वीरभद्रं सिद्धं सान्तानिकं ततः।
शर्वोद्गीतं च विभक्तं वातुलं चेत्यनुक्रमात्।
रुद्रभेदोद्भवान्येव तन्त्राण्यष्टादशैव हि।।[18]

स्वायम्भुव की सत्ता को उद्धृत करते हुए लेखक का मानना है कि पाशुपत, वाकुल तथा सोमतन्त्र भी परमेश्वर से समुद्भूत हैं—

पुनः स्वेच्छावतारेषु तन्त्रं पाशुपतं तथा।
वाकुलं सोमतन्त्रं च जगाद परमेश्वरः।।[19]

अपर आगमों के अन्तर्गत चतुर्दश विद्याओं के नाम हैं।

महाभारत के समय में विभिन्न मतों—सांख्य, योग, पाञ्चरात्र तथा वैदिक के साथ पाशुपत-मत मौजूद था।[20] सर्वप्रथम *अथर्वशिरस् उपनिषद्* में पाशुपतव्रत, पशु, पाश आदि तन्त्र के पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख मिलता है।

पाञ्चरात्रागम के *अहिर्बुध्न्यसंहिता* में पाशुपत तन्त्र का स्वरूप तथा उनके आठकाण्डों का नामोल्लेख निर्दिष्ट है, जो निम्नवत् हैं—

तन्त्रं पाशुपतं नाम पशुपाशप्रमोचनम्।।
मद्वक्त्रान्निःसृतं विष्णोः सङ्कल्पप्रविजृम्भितम्।
अष्टकाण्डमिदं प्रोक्तं मया तन्त्रमनुत्तमम्।।
पतिकाण्डमथाद्यं तु पशुकाण्डमतः परम्।
पाशकाण्डं तृतीयं तु प्रोक्तं पञ्चप्रभेदतः।।
शुद्धचर्या च मिश्रा च काण्डे द्वे परिकीर्तिते।
देवकाण्डमथो षष्ठं दीक्षाकाण्डमतः परम्।।
सायुज्यमष्टमं प्रोक्तं काण्डं पाशुपतं महत्।
अष्टकाण्डमिदं शास्त्रं सुदर्शनमयं हरेः।।
दिव्यं पाशुपतं शास्त्रं मयैवोक्तं महामुने।[21]

अर्थात् पशुओं (जीवों) को पाश (माया) से मुक्त करने वाला पाशुपत नामक तन्त्र है जो विष्णु के संकल्प से प्रकाशित होकर मेरे (अहिर्बुध्न्य) के मुख से प्रगट हुआ है। इसे मैंने स्वयं ही आठ काण्डों में कहा है। प्रथम पतिकाण्ड, द्वितीय पशुकाण्ड, तृतीय पाशकाण्ड। इसके पाँच भेद हैं। एक शुद्धचर्या, दूसरी मिश्रचर्या इस प्रकार दो भेद पहले कह आये हैं कुल पाँच भेद हुए। छठाँ देवकाण्ड, सातवाँ दीक्षाकाण्ड तथा आठवां सायुज्यकाण्ड है। इस प्रकार पाशुपतशास्त्र के आठ भेद हैं। यह विष्णु का सुदर्शनमय शास्त्र, जिसे दिव्यपाशुपत शास्त्र कहते हैं। नारद के प्रश्न पर भगवान् अहिर्बुध्न्य कहते हैं—

धर्म एक विभूतिस्थो मया पशुपतेः स्मृतः।
उग्रव्रतैर्नरैः सम्यक् ब्रह्मप्रीत्यै स साध्यते।।[22]

पाशुपत धर्म को ब्रह्मप्रीत्यर्थ उग्रव्रत वाले लोग करते हैं। सर्वदर्शन-संग्रह में निर्दिष्ट है—**"तस्मात्-पुरुषार्थकामैः पुरुषधोरेयैः पञ्चार्थप्रतिपादनपरं पाशुपतशास्त्रमाश्रयणीयम्।"**[23]

पाशुपतों के मत में पाँच पदार्थ हैं—(1) कारण अर्थात् परमेश्वर का ज्ञान, (2) कार्य अर्थात् जीव तथा जगत् का ज्ञान, (3) योग—शिव से जीव की एकता, (4) विधि—साधनाक्रम, तथा (5) दुःख से निवृत्ति। ये पाँच पदार्थ क्रमशः सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष तथा ईशान—पाँच मन्त्रों के आधार पर विभाजित है। दुःखान्त परमेश्वर के अनुग्रह से ही होता है—

प्रसादात् स दुःखान्तः प्राप्यते, न तु ज्ञानवैराग्यधर्मैश्वर्यत्यागमात्रादित्यर्थः।[24]

पाशुपमत में पति, पशु तथा पाश—ये तीन तत्त्व और प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम—ये तीन ही प्रमाण हैं।

पाश या प्रकृति संसार में अपनी शक्ति का विस्तार करती है। अपने पञ्च-कञ्चुक से वह जीवात्म को अणु बना देती है। ये कञ्चुक हैं—कला, विद्या, राग, काल तथा नियति। इनके कार्य क्रमशः सीमित क्रिया, सीमित ज्ञान, आसक्ति, घटना विशेष के परिप्रेक्ष्य में सीमितकाल और नियति अर्थात् पूर्वनिश्चित घटनाक्रम।[25] पूर्व जन्मों के कर्मों के फलस्वरूप पशु मायापाश से बद्ध होता है। पूर्वजन्म के कर्म ही 'मल' कहलाते हैं। मल के तीन भेद भेद हैं—आणव, मायीय तथा कार्मिक। आणव मल आत्मा से नित्य जुड़ा रहता है। मायीय तथा कार्मिक क्रमशः माया और कर्म के परिणाम हैं। आध्यात्मिक धरातल पर प्रत्येक पशु का उद्देश्य है—पाश से मुक्त होकर शिवता की ओर अग्रसर होना।[26] भक्ति के द्वारा ही मुक्ति सम्भव है—

मलमायादिभिः पाशैः स बध्नाति पशुपतिः।
स एव मोचकस्तेषां भक्त्या सम्यगुपासितः।।

पाशुपत दर्शन सम्मत परतत्त्व पशुपति की सत्ता सत्कार्यवाद के सिद्धान्त पर प्रतिष्ठित है। यह संसार सावयव तथा कार्य है। इसका कारण कोई चेतन सत्ता है। यह चेतन सत्ता सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ

पशुपति है। उसकी स्वतन्त्र इच्छा इस जगत् के रूप में अभिव्यक्त होती है। प्रलयाकलदशा में समस्त सृष्टि का विलय अव्यक्त में होता है। इस दशा में अव्यक्त पशुपति से पृथक् स्वतन्त्र अवस्था में रहता है तथा महा प्रधान कहलाता है। सत्त्व, रज तथा तम ये तीनों गुण साम्यावस्था में प्रधान में रहते हैं। प्रलयावस्था में जब सर्वतो व्याप्त अन्धकार छाया रहता है उस समय मात्र महेश्वर ही रहते हैं।

कापालिक एवं कालामुख मत के सन्दर्भ में डॉ. वी. एस. पाठक के ग्रन्थ *हिस्ट्री आफ शैव कल्ट्स इन नार्दन इण्डिया*[27] तथा डॉ. डेविड एन. लोरेंजन के ग्रन्थ *दि कापालिक्स एण्ड कालामुख*[28] विस्तार से देखा जा सकता है। यामुनाचार्य ने आगम प्रामाण्य में कापालिकों के छः मुद्राओं-कर्णिका, रुचक, कुण्डल, शिखामणि भस्म तथा यज्ञोपवीत का विधान किया है। अपवर्ग प्राप्ति के ये ही उपाय हैं। कालामुख की दृष्टि में समस्त शास्त्र-निषिद्ध कपाल-पात्र-भोजन, शव-भस्मस्नान तथा उसका प्राशन, लगुडधारण सुराकुम्भस्थापन और कुम्भ में देवार्चनादि विधियों से समस्त दृष्ट तथा अदृष्ट सिद्धियाँ सुलभ हो जाती हैं।

सिद्धान्त शैव दर्शन द्वैतवादी है। श्रीशङ्कराचार्य ने *ब्रह्मसूत्र* के भाष्य में यह बताया है कि शैवसिद्धान्ती ईश्वर को केवल निमित्त कारण मानते हैं, वेदान्तियों की भाँति निमित्त तथा उपादान कारण नहीं।[29] सिद्धान्त दर्शन की मान्यता है कि ईश्वर तथा जीव का उसी प्रकार का अभेद सम्बन्ध है जैसे आत्मा और शरीर का है। वह स्वरूपतः जीव से उसी प्रकार भिन्न है जैसे सूर्य और चक्षु साथ ही जीवों से उसी प्रकार भिन्नाभिन्न है जैसे कि आत्मबोध चाक्षुष दर्शन से सम्बद्ध है।[30]

सिद्धान्त शैव दर्शन तीन तत्त्वों पर आधारित है—पति, पशु तथा पाश। सृष्टिक्रम में यही व्यवस्था है। प्रलय क्रम में भी तीन ही तत्त्व—माया, पुरुष तथा शिव शेष रहते हैं—

शैवागमेषु मुख्यं पति-पशु पाशाविति क्रमात् त्रितयम्।[31]

माया पुरुषः शिव इत्येतत्त्रितयं महार्थसंहारे।[32]

शिव, शक्ति तथा बिन्दु—ये तीन रत्न के रूप में मान्य हैं—

बिन्दुशक्तिशिवाख्यानि त्रीणि सिद्धान्तसागरात्।

शैवसिद्धान्ती शिवागमों को वेदों के समान मौलिक तक प्रामाणिक मानते हैं। पति ही शिव है। चित्-ज्ञान तथा क्रिया ही इसका स्वरूप है। यह एक सर्वव्यापक अर्थात् असीम स्वतन्त्र है, नित्ययुक्त, सर्वसामर्थ्यशाली तथा शान्त है। शिव ही प्रधानतया समस्त जगत् का एकमात्र बीज है। करुणावश सभी को कर्मानुसार भोग तथा मोक्ष प्रदान कर अनुग्रह करता है। शिव न उत्पन्न होता है न नष्ट होता है स्वयं निर्वाण नहीं प्राप्त करता अपितु जीवों को निर्वाण प्रदान करता है।[33] यह तत्त्वातीत है। इसे सभी लिङ्गों, रूपों तथा अवस्थाओं से परे माना गया है। छत्तीस तत्त्वों से परे वह अवस्था है जहाँ शक्ति का सदा स्वरूप विकास हुआ करता है। शिव वह तत्त्व है जहाँ प्रलय दशा होने पर माया से शुद्धाध्व के समस्त पदार्थों के शक्ति में लय होने पर उनके

विलय भाव के साथ शक्ति अविभक्त रूप से समाविष्ट हो जाती है।[34] यहाँ यह ध्यातव्य रहे कि यह वह दशा है जब परमशिव जो शुद्धाध्व के प्रथमतत्त्व शिवतत्त्व से भी परे है। इसी सिसृक्षावशात् वह स्वयं निमित्तकारण बनकर अपनी समवायिनी शक्ति अथवा बिन्दु को उपादान बनाकर शुद्धाध्वतत्त्वों की सृष्टि करता है तथा शिवादि तत्त्वों का प्रादुर्भाव होता है। पति के प्रसंग में यह निर्भ्रान्त रहना चाहिए कि यह त्रिदेवों (ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र) में से एक है। सिद्धान्त मत में ये पशु की एक अवस्था विशेष है, पशु के एक रूप मात्र है।[35]

ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए सिद्धान्तवादी सत्कार्यवाद का आश्रय लेता है। नित्य परिवर्तनशील यह जगत् कार्य रूप है। अत: इसका कर्त्ता अवश्य होना चाहिए। चैतन्यरूप परमतत्त्व ही इस अलौकिक कार्य को सम्पन्न कर सकता है। शैव सिद्धान्त तीन नित्य पदार्थों की सत्ता स्वीकार करता है— शिव, आत्मा तथा माया। आत्मा मलावरण से युक्त है। निर्मल परमेश्वर ही उसे इससे मुक्त कर सकता है। शिव आत्मा तथा माया से अतीत, चेतन तथा सर्वज्ञ हैं। यद्यपि आत्मा भी सद् तथा चिद्रूप है किन्तु उसकी शक्ति सीमित है। माया जड़ होने के कारण स्वयं कुछ कर पाने में असमर्थ है। यह शिव के अधीन उपादान कारण है, जबकि स्वयं शिव निमित्त कारण है। माया केवल माध्यम है जिससे आत्मा अपने-अपने देह तथा लोकों को प्राप्त करके मुक्ति के लिए प्रयत्नशील होती है। इस प्रकार शिव आत्मा तथा माया से अतीत तथा सर्वोपरि है।[36]

शैवसिद्धान्त सम्मत शिव (पति) नित्य, स्वतन्त्र, प्रकाशात्मा, आनन्द और विभु है।[37] वह सर्वोच्च तत्त्व मूल कारण तथा एक है।[38] त्रिपदार्थों में शिव सर्वोच्च है। ज्ञान, चेतना तथा क्रियाशक्तियों में भी आत्मा से उच्च है। शिव के ज्ञान के लिए किसी साधन की आवश्यकता नहीं है।[39] आत्मा जन्म और मृत्यु का विषय है, किन्तु शिव इन परिवर्तनों से परे है। आत्मा का ज्ञान भ्रामक होता है। वह न तो स्वयं अपने विषय में तथा न शिव के विषय में ही पूर्ण रूप से जान सकता है किन्तु शिव स्वशक्ति द्वारा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को जानता है। शैव-सिद्धान्त में शिव को शक्ति रूप माना गया है। शक्ति के कारण ही शिव विश्वातीत तथा विश्वमय है। वह न किसी द्वारा देखा जा सकता है, न जाना जा सकता है न समझा जा सकता है।[40] वह सभी दृश्यमान वस्तुओं से परे है। शिव की विश्वोत्तीर्णता तात्त्विक द्वैत के कारण है। शिव, संसार तथा सृष्टि से परे है इसीलिए विश्वोत्तीर्ण है।[41] दूसरी तरफ शिव को सर्वव्यापक तथा सर्वसमावेशी भी स्वीकारा गया है।[42]

शिव सर्वज्ञ है। वह समस्त आत्मा तथा जगत् में मौजूद है। यह उसी तरह विद्यमान है जिस भाँति 'अ' स्वर सभी में विद्यमान है तथा अभिव्यक्त कारण है। शिव सभी चित् तथा अचित् में निवास करता है।[43] शिव असीमित शक्तियों से युक्त है। जीवों के लिए जो असम्भव है, उसे करने की क्षमता शिव में है।[44]

शिव अनुभवातीत सत्ता है। वह मन तथा वाणी से सुदूर है। अस्तु उसे आध्यात्मिक सत्ता के रूप में कल्पित किया गया है।[45] ईश्वर की अनुभूति का माध्यम आध्यात्मिक अन्त:प्रज्ञा है।[46]

आगमिक परम्परा से पोषित शैव-सिद्धान्त दर्शन में 'शक्ति' तत्त्व की सविशेष प्रतिष्ठा हुई। अधिकांश आगमों में शिव आश्रय रूप में बने रहते हैं, उनकी क्रिया 'शक्ति' से प्रवर्तित होती है। शक्ति शिव के स्वरूप को प्रकाशित करती है। शक्ति शिव का अविभाज्य मूलभूत भाग है। शक्ति के बिना शिव अचिन्त्य है। शक्ति द्वारा शिव का रूप-निर्माण होता है।[47] शिव का आकार उसकी शक्ति है जो असीमित है।[48] शिव तथा शक्ति में अपरिहार्य सम्बन्ध है, उन्हें पृथक् करके नहीं समझा जा सकता है। ध्यातव्य रहे कि शक्ति सदैव शिव के साथ रहती है किन्तु वह शिव नहीं है, न ही शिव से पृथक् ही है।[49] इनके सम्बन्ध की तुलना सूर्य तथा उसके प्रकाश से की जा सकती है।[50] जिस प्रकार अपने को प्रकाशित करने की अवस्था में सूर्य तथा वस्तुओं को प्रकाशित करते समय सूर्य-किरण कहा जाता है उसी भाँति शिव की स्वस्थिति चैतन्यावस्था में शिव कहा जाता है और विषयीकरण में शक्ति। अत: दोनों में भेद नहीं है। वस्तुत: गुण गुणी पर आधारित है, गुणी गुण पर नहीं। उसी प्रकार शक्ति शिव पर आधारित है शिव शक्ति पर नहीं।[51]

पशुपति अथवा पति पञ्चकृत्यकारी हैं। सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव अनुग्रह—वह स्वयं करता है।[52] शिव पञ्चमन्त्रतनु है। ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव तथा सद्योजात और इनके मन्त्र क्रमश: शिव के शिर, मुख, हृदय, गुह्याङ्ग तथा पाद स्थानीय है।[53] वाक्, प्राण, मन, समष्टि तथा व्यष्टि सब कुछ लेकर यह विश्वमहायज्ञ है। इस यज्ञ में 'अग्निचित्' अग्नि का चयनकारी बना 'अत्' अर्थात् स्वर का आदि वर्ण जो अवर्ण है वह। यह अघोर रूप है क्योंकि मूढ़ एवं घोर को लाँघे बिना उक्त चयन कर्म सम्भव नहीं है। तत्पश्चात् अन्त्य स्पर्श वर्ण जो 'म'कार है वह 'मृशति' स्पर्श (मर्षण करता है) सोमसुत् (सोम का सवनकारी) वामदेव रूप है। स्वर-समुदाय 'उ' वर्ण से सद्य: निरन्तर, अविच्छेद अभ्युदय उत्पन्न होता है वह ऊर्ज्ज सद्योजातरूप है। होतृहव्ये हुतौ (द्रव्य-यज्ञ से हवन-यज्ञपर्यन्त यज्ञों में आदि और अन्त के दो वर्ण 'ह' एवं ':') ये दोनों वर्ण तत्पुरुषरूप हैं। ईशान-यज्ञफल-नियन्ता है। कितने ही यज्ञ-फलों को 'स' इस वर्ण से प्रसव किया था एक 'हौंस:' रूप महाबीजकार रूप वाक् ही सर्वधुक् सर्वसम्मेलन, सर्वभावन तथा सर्वसमापन में कर्म में निरतिशयकुशला—

सोऽघोरोऽदग्निचिद् यो मिति मृशति यत: सोमसुद् वामदेव:।
सद्योजातो ह्युवर्णात् स्वरसमुदयतोऽजायतोर्ज्जश्च सद्य:।
आदावन्ते च यौ तत्पुरुष इति हुतौ होतृहव्ये द्विवर्णा-
वीशानश्चेष्टिकामान् कति सिति सुषुवे सर्वधुक् चैकहौंस:।।[54]

काशी के मुमुक्षु भवन में देश के अकेले 'शिव-शिल्प' की अनूठी झाँकी' शीर्षक से प्रकाशित आलेख है। नम: शिवाय की पञ्चाक्षरी से सिद्ध अनूठे शिव-विग्रह-शिल्प के कल्पनाकार आन्ध्र-प्रदेश वासी आचार्य कोलोरु अवतार शर्मा जो मोक्ष की कामना से काशीवास कर रहे हैं। आचार्य विशाल शिवलिङ्ग पर चारों दिशाओं के आधार पर मुखमण्डल की व्याख्या वेदोक्त तथा मूर्त्तिरहस्य के अनुसार करते हैं। तदनुसार

पूर्वदिशा की ओर अंकित महादेव के मुखमण्डल की प्रतिष्ठा 'सद्योजातमुख' के रूप में है। इस मुख से गायत्री आदि दो करोड़ मन्त्रों का उद्भव हुआ है। पश्चिम दिशा के मुखमण्डल को 'वामदेव' कहा गया है। इससे दक्षिणामूर्त्ति मन्त्र सहित एक करोड़ शैवागम मन्त्रों का आविर्भाव हुआ है। दक्षिण दिशा का मुख 'अघोरमुख' के संज्ञा से अभिहित है। इस रौद्र शिवमुख से एक करोड़ दक्षिणाम्नाय वैष्णवागममन्त्रों का उदय हुआ। चतुर्थमुख 'तत्पुरुष मुखमण्डल' के नाम से जाना जाता है। इस मुख से दो शाक्तगम महामन्त्रों का उदय हुआ। शिव का पाँचवाँ मुख लिङ्ग के शीर्ष पर ऊर्ध्वमुखी है। भगवान् सदाशिव के इस मुख से एक करोड़ ऊर्ध्वाम्नाय महामन्त्र प्रस्फुटित हुए। वलयदेश में देश के द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों की एक साथ प्रतिष्ठा है। आचार्य जी का अभिमत है यह काशी का ऐसा एकमेव पुण्यपुञ्ज है जिसकी एक परिक्रमा से सात करोड़ महामन्त्रों की तपश्चर्या का फल प्राप्त होता है।[55]

साधक साधना के द्वारा शुद्धावस्था को प्राप्त करता है, जिसकी पूर्णता पतिज्ञान से होती है। 'शिवोऽहम् अस्मि' ज्ञान एवं क्रियाशक्ति का पूर्ण समन्वय है। ज्ञान एवं ज्ञेय के 'अन्यन्यत्व' 'पञ्चाक्षर' मन्त्र है। पञ्चाक्षर की साधना से हृदय-पुण्डरीक में जो अन्तर्याग होती है, वही शिवपूजा है।[56]

चर्या, क्रिया तथा योग का सम्पादन करते हुए शिव-कृपा से उस परम पद को प्राप्त किया जा सकता है। शिवपद को प्राप्त करना ही वास्तविक मुक्ति है, जो शास्त्राध्ययन तथा धर्ममार्ग से परे है। परमेश्वर द्वारा प्रदत्त वेदागम भी परमपद को प्रदान नहीं कर सकता। केवल ईश्वरकृपा ही ईश्वर में लीन होने का एकमात्र उपाय है। शरणागति या प्रपत्ति ईश्वर के प्रसाद से प्राप्त होती है। इस सिद्धान्त में सन्मार्ग, दासमार्ग, सत्पुत्रमार्ग एवं सहमार्ग नामक चार प्रकार के साधन-मार्ग निर्दिष्ट है—

चर्यामार्गं दासमार्गं पुत्रमार्गं क्रियां विदुः।
सहमार्ग योगपादं सन्मार्गं ज्ञानमेव च।।
दासमार्गी शिवध्यानलिङ्ग बिम्बालयादिकृत्।
शैवनृत्तनुतिस्तोत्रगानकृद् द्रोहिमर्दकः।।
पुत्रमार्गी शिवार्चादि जपहोमपरायणः।
प्रवेशकः शिवज्ञानी त्वौपदेशिक एव वा।।
सहमार्गी भवेत् सर्वशैवागमविशारदः।
पुत्रीकृत जनः शैवाचार्यः सान्तानिकश्च यः।।
सन्मार्गी त्यक्तसंसारं समत्वशुचिमत्वयुक्।
समदृङ् निरंहकारी शिवज्ञानकृतश्रमः।।
एतच्चतुर्विधं मार्गं सालोक्यादि फलप्रदम्।।[57]

दासवन्निवसेन्नित्यं दीक्षमाश्रित्य मोक्षदाम्।
चर्यैषा मुक्तये तस्य प्रशस्ता शाश्वती क्रिया।।[58]

शिव की अनुग्रह-शक्ति का नाम दीक्षा है—

दीक्षया मुच्यते देही त्रिविधाद् भवबन्धनात्।
सा दीक्षा चाध्वसंशुद्धिः सा चाध्वा षड्विधः स्मृतः।।[59]

आचार्य मूर्त्ति भगवान् इस दीक्षा के द्वारा शिष्य का उद्धार करते हैं तथा उसे भवबन्धन से उन्मुक्त कर स्वरूपाप्पत्ति करा देते हैं।[60]

सन्दर्भ

1. *शान्तिपर्वणि, मोक्षधर्मपर्व*, 219/46
2. *सन्मार्ग*, आगम विशेषाङ्क, पृ. 1
3. रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां नृणामेको गम्यस्वमसि पयसामर्णव इव।।— *शिवमहिम्नः स्तुति*-7
4. सृष्टिश्च प्रलयं चैव देवतानां तथार्चनम्। साधनं चैव मन्त्राणां पुरश्चरणमेव च।।
षट्कर्मसाधनं चैव ध्यानयोगश्चतुर्विधः। सप्तभिर्लक्षणैयुक्तं त्वागमं तद्विदुर्बुधाः।। — *शब्दकल्पद्रुम।*
5. *प्रमाणनयतत्वालोकालंकार*, 4/1
6. *सांख्यकारिका* 5 पर टीका जयमङ्गला।
7. *चरकसंहिता*, विमानस्थान, 4/4
8. *शब्दस्तोममहानिधि, दी आगम इन्साइक्लोपीडिया*, वाल्यू. 1, पृ. 129
9. तन्त्रं जज्ञे रुद्रशिवभैरवाढ्यमिदं त्रिधा। वस्तुतो हि त्रिधैवेयं ज्ञानसत्ता विजृम्भते।।
भेदेन भेदाभेदेन तथैवाभेदभागिना। — *तन्त्रालोक*, टीका जयरथ, 1/18
10. *गणेशसहस्रनाम*, 129बी.
11. *Gleanings From the History & Bibliography of the Nyaya-Vaisesika Literature*, M.M. Gopinath Kaviraja, Calcutta, 1961
12. *तन्त्रालोक टीका*, 1/18
13. *शिवपुराण*, *कोटिसंहिता*, सं. 1/21-24
14. *शैवागमपरिभाषामञरी*, 8/32-39
15. (क) *ओरिजिन एण्ड अर्ली हिस्ट्री आफ शैविज्म इन साउथ इण्डिया*, सी. वी. अय्यर
(ख) *फैलिक वर्शिप*, जार्ज स्काट, लन्दन, 1944
(ग) *रिलीजन्स आफ इण्डिया*, प्रथम भाग (द्रविडियन सिस्टम्स), करमारकर।
16. *ईशानशिवगुरुदेवपद्धति*, क्रियापाद, प्रथमपटल।

17. तत्रैव।
18. तत्रैव
19. तत्रैव।
20. सांख्यं योगं पाञ्चरात्रं वेदा: पाशुपतं तथा। ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नाना मतानि वै। — *शान्तिपर्व*, 349
21. *अहिर्बुध्न्यसंहिता*, 12/39-44
22. *अहिर्बुध्न्यसंहिता*, 13/24
23. *सर्वदर्शनसंग्रह*, उद्धृत, *दी आगम इन्साइक्लोपीडिया*, वो. 2, पृ. 28
24. पाशुपतसूत्र पर टीका
25. *शिवपुराण*, *वायवीयसंहिता*, पूर्व 4/31
26. तत्रैव, 4/16-20
27. अविनाश प्रकाशन, इलाहाबाद, 1980
28. थामसन प्रेस (इण्डिया लिमिटेड), नई दिल्ली, 1972
29. *ब्रह्मसूत्र भाष्य*, 2/2/37
30. God is one with souls by association, as soul with body. He is different from souls by nature as sun and eye. He is in union with soul being the soul of the soul, as the ensciousness of the soul unites with the eyes seeing, — *Siva-Jnana Bodham* 2, Translated and commented by G. Mathews, Oxford, 1948, Expository Notes p. 33
31. *तत्त्वप्रकाश*, 5
32. तत्रैव, 69
33. तत्रैव, 2
34. तत्रैव, 68
35. *Studeis in Saivasiddhanta*, J.M. Nallaswan Pillai, p. 37
36. *Saivasiddhant*, V. Paranjoti, Madras, p. 48
37. निर्मलनिरतिशयस्वप्रकाशज्ञानानन्दात्मकं विभु नित्यं स्वतन्त्रशिवमिति। — *शैवपरिभाषा,* पृ. 29
38. *शिवज्ञानसिद्धि1*/1/1
39. *Siddhiyas* V/ v/5
40. *तिरुवाचकम्*, 5/17, 3/47
41. तिरुमन्तिरम्, 14

42. *तिरुवाचकम्*, 3/44, 50

43. *Grace in Saiva Siddhant*, p.122 Ramakrisna, Shree Publication, 2017

44. *Saiva School of Hinduism*, p. 56

45. Love of God according to *Saiva Siddhanta*, p. 206

46. *Saivism in philosophical perspective*, K. Sivaraman, Motilal Banarasidad, 1973, p.57

47. *मृगेन्द्र आगम*, 3/8, 3/15

48. *Saivasiddhan*t, Devasenapati, p.23

49. *Savism in Philosophical perspective*, p.516

50. *रत्नत्रय*, 68

51. *तिरुवरुट्पयन*, पृ. 11

52. *तत्त्वप्रकाश*, 7

53. तत्रैव, 6, *तात्पर्यटीका*

54. *जपसूत्रम्*, प्रथमकाण्ड-101, उपोद्घात।

55. *दैनिक जागरण*, वाराणसी, 12 जुलाई, 2018, पृ. 6

56. (क) *मापादियम्*, पृ. 64,68-69
(ख) *उणमैविलक्कम्*, 5/34

57. *शैवज्ञानबोधसंग्रह*, *कामिकागम*, उद्धृत *शैवागमपरिभाषा मञ्जरी*, 4/123-128

58. *मतङ्गपारमेश्वर चर्यापाद*, 4/3

59. *रौरवागम* क्रियापाद 47/30

60. आचार्य संस्थितो देवो दीक्षाशक्त्यैव मुञ्चति।
स्वशक्त्योद्धृतान् पुंसो मन्त्रसाधनासाध्यया।। — *मोक्षकारिका*, कारिका 60

अध्यक्ष, धर्मागमविभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी-221005
दूरभाष : 9452823899

तन्त्रागम और आचार्य अभिनव गुप्त

महामहोपाध्याय देवर्षि कलानाथ शास्त्री

भारत में आगम और निगम दोनों का सुदीर्घ इतिहास है और अपार शास्त्रसम्पदा और ग्रन्थराशि है। जिस प्रकार निगम के विशाल साहित्य का उल्लेख पतञ्जलि ने किया है (एकशतमध्वर्युशाखा, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, शतधा अथर्वणो वेदः) और लाखों वैदिक ग्रन्थ प्रकाशित हैं उसी प्रकार आगम (शास्त्र और तन्त्र) का अपार साहित्य रहा। इसमें तन्त्रशास्त्र का अगाध विस्तार सारे देश में और निकटस्थ अन्य देशों में फैला किन्तु खेद की यह बात कहने में संकोच नहीं करना चाहिए कि तन्त्रशास्त्र के अनेक ग्रन्थ व्यापक प्रकाश प्राप्त नहीं कर सके क्योंकि तन्त्रशास्त्र को गूढ, आत्मनियन्त्रित और गहन साधना की विद्या माना गया और यह घोषणा की गई कि '**गोपनीयं, गोपनीयं, गोपनीयं प्रयत्नतः**।' इसके मन्त्र नितान्त गुप्त रखे जाने योग्य बनाए गए, केवल गुरु के द्वारा शिष्य के कान में कहे जाएँ, उनकी दीक्षा ली जाए किन्तु उसे पूर्णतः प्रकट करना प्रकट करने वाले के विनाश का कारण होगा यह मान्यता फैलाई गई। इसके फलस्वरूप मन्त्र तो गुप्त रखे ही गए, हजारों ग्रन्थ भी गुप्त रह गए, नष्ट हो गए, प्रकाश में नहीं आ पाए।

तन्त्र वाङ्मय

मुद्रण की परम्परा प्रारम्भ होने के बाद थोड़े-से तान्त्रिक ग्रन्थ अवश्य प्रकाशित हुए जिनका इतिहास भी सही ढंग से नहीं लिखा जा सका। आर्थर एवेलोन (जॉन वुडरफ) आदि विदेशी विद्वानों ने उनका अध्ययन कर उन पर जो ग्रन्थ लिखे उससे अवश्य उनकी जानकारी विश्वजनीन स्तर पर फैली किन्तु अधिकांश तन्त्रसाहित्य मुद्रित नहीं हो पाया। शारदातिलक, श्रीविद्यार्णव आदि ग्रन्थ अवश्य प्रकाशित हुए। आधुनिककालीन विद्वानों ने विलुप्त होने से बचाने की दृष्टि से तन्त्रशास्त्र पर जो लेखन किया उससे विद्वानों का ध्यान गया कि तन्त्रशास्त्र का अध्ययन भी संस्कृत वाङ्मय के इतिहास के अङ्ग के रूप में खुलकर किया जाना चाहिए। तभी तो काशी के मूर्धन्य मनीषी गोपीनाथ कविराज के एतत्सम्बन्धी ग्रन्थ प्रकाश में आए, अनूदित और प्रकाशित हुए। *'तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि', 'तान्त्रिक साहित्य', 'तन्त्र और आगम शास्त्रों का दिग्दर्शन', 'तान्त्रिक साहित्य'* आदि उनके ग्रन्थ आज हमारी बहुमूल्य निधि है।

उनके आधार पर ही यह आशा बँधी थी कि हमारे पाठ्यक्रमों के लिए जो संस्कृत साहित्य के इतिहास पर ग्रन्थ लिखे जा रहे हैं उनमें तन्त्रशास्त्र का इतिहास भी सम्मिलित होगा। यह कटु सत्य यहाँ उल्लिखित करने में मुझे संकोच नहीं हो रहा कि संस्कृत साहित्य के जो प्रसिद्ध इतिहास पिछली सदी में प्रकाशित हुए

उनमें दर्शनशास्त्र का इतिहास है, कोषों का इतिहास है, कुछ में आयुर्वेद का इतिहास भी है पर तन्त्रशास्त्र का इतिहास नहीं है।

मैं तो सदा यह निवेदन करता रहा हूँ कि राजस्थान जैसे राज्य में भी तन्त्रशास्त्र के आकरग्रन्थ लिखने वाले अनेक कालजयी विद्वान् हुए हैं। जयपुर (आम्बेर) राजपरिवार के गुरु गोस्वामी शिवानन्द (18वीं सदी) ने तन्त्रशास्त्र के अनेक आकरग्रन्थ लिखे जिनमें '*सिंहसिद्धान्तसिन्धु*' जैसे विशाल ग्रन्थ राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान से (पाँच विशाल खंडों में) प्रकाशित भी हो चुके हैं। यहीं के विद्वान् पं. सरयू प्रसाद द्विवेदी ने (19वीं सदी) '*आगम रहस्य*' आदि अनेक ग्रन्थ लिखे जो प्रकाशित हैं। हिमालय की तराई से राजस्थान में भरतपुर में आकर बसे आचार्य अमृत वाग्भव (20वीं सदी) ने अनेक ग्रन्थ लिखे, तन्त्रसाधनाएँ कीं, अनेक शिष्यों को प्रेरित किया। इन सबके कृतित्व को क्या संस्कृत साहित्य के इतिहास का अंग नहीं होना चाहिए? पिछले दिनों कुछ साहित्येतिहास ग्रन्थों में ही तन्त्र को थोड़ा स्थान मिलना शुरू हुआ है।

सहस्राब्दियों से लिखे जा रहे तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों का फलक विशाल है, इतिहास भी सुदीर्घ है। शाक्त तन्त्र, शिवोपासना तन्त्र आदि तो सुविदित हैं ही, उनके भेदोपभेद भी रहे हैं। शाक्तोपासना में कौलाचार, समयाचार आदि पद्धतियाँ हैं जिन पर भी ग्रन्थ हैं। शक्तिपूजा हिमाचल के अंचलों से लेकर तिब्बत तक, चीन देश के कुछ भागों तक फैली थी। इनके अतिरिक्त वैष्णव तन्त्रों का भी अलग इतिहास है। वैष्णव तन्त्र पाञ्चरात्र नाम से अभिहित किए जाते हैं। पाञ्चरात्रों के अनुसार भी उपासना होती थी, *वैखानस आगम* के अनुसार भी। शैव तन्त्रों में पाशुपत आगम और उसका प्रमुख अंग लकुनीश साधना सुविदित है। लकुनीश आदि 18 अवतार शंकर के माने जाते हैं इस मार्ग में। इनका भी साहित्य उपलब्ध है।

शैवोपासना का भक्तिमार्ग भी अवश्य पहचान रखता है जो तमिल भाषीक्षेत्र में प्रमुखत: पल्लवित हुआ। शिव के पाँच मुखों में से प्रत्येक ने विभिन्न आगमों को प्रकट किया, 5 आगम सद्योजात मुख से, 5 वामदेव मुख से, 5 अघोर मुख से, 5 तत्पुरुष मुख से तथा 8 ईशान मुख से प्रकट हुए ऐसा '*तन्त्रालोक*' की जयरथीय विवृति में संकेतमिलता है। शैवागम का पल्लवन कश्मीर में खूब हुआ। दक्षिण भारत में तो भक्ति की धारा बही जिसकी एक वैष्णव लहर 'आळवारों की मानी जाती है, शैव लहर 'नायनारों' की। वह पृथक् इतिहास की प्रतिपाद्य वस्तु है, उसे तन्त्र का अङ्ग नहीं माना जा रहा। कर्णाटक में तन्त्रपूजा का ही एक रूप वीरशैव मत में परिलक्षित हुआ जिसे वसवण्णा (वसवेश्वर) ने जन-जन तक पहुँचाया, ऊँच-नीच का, स्पृश्यास्पृश्य का भेद भूलकर वीरशैव सम्प्रदाय ने समस्त मानव जाति का उद्धार किया जो बारहवीं सदी से प्रारम्भ हुआ और आज भी विभिन्न रूपों में फलफूल रहा है।

इन सबके अतिरिक्त काश्मीर क्षेत्र में फला-फूला प्रत्यभिज्ञा तन्त्र अपना विशिष्ट इतिहास सँजोये हुए है जिसमें दार्शनिक चिन्तन भी है, साधना के मार्ग भी। इसका इतिहास भी सुदीर्घ है, साहित्य भी विशाल है।

प्रत्यभिज्ञा तन्त्र

काश्मीर के इस शैवागम को प्रत्यभिज्ञा तन्त्र भी कहा जाता है, स्पन्द या त्रिकदर्शन भी, षडर्धशास्त्र भी क्योंकि इसमें पशु, पाश, पशुपति इन तीन तत्त्वों की महिमा वर्णित है। शैवाद्वैत की परम्परा प्राचीन है किन्तु इसके प्रवर्तक आचार्य वसुगुप्त (8वीं सदी) माने जाते हैं जिन्हें शङ्कर ने स्वप्न में आदेश दिया कि हिमालय में एक शिला पर मेरे सूत्र टंकित हैं, उनका उद्धार और प्रचार करो। शिवोपल के ये 77 सूत्र इस आगम के मूल आधार बने, इन पर वसुगुप्त ने *स्पन्दकारिका* लिखी जिसमें 52 कारिकाओं में इस मार्ग के प्रमुख सिद्धान्त संकेतित हैं। वसुगुप्त ने गीता पर भी *वासवी टीका* लिखी थी, ऐसा माना जाता है।

वसुगुप्त के दो शिष्यों ने इस मार्ग के शास्त्रीय सिद्धान्तों पर कार्य किया। ये थे—कल्लट तथा सोमानन्द। महामाहेश्वराचार्य कल्लट (नवीं सदी के उत्तरार्ध में) ने स्पन्द सिद्धान्त पर कार्य किया और सोमानन्द ने प्रत्यभिज्ञा सिद्धान्त पर। उत्पलाचार्य (नवीं सदी) सोमानन्द के शिष्य थे जिन्होंने *प्रत्यभिज्ञाकारिका* लिखकर प्रत्यभिज्ञा दर्शन के सिद्धान्त स्थिर किए, *सिद्धित्रयी* में साधना बताई, *शिवस्तोत्रावली* लिखीं।

अभिनव गुप्त

शैवागम के प्रत्यभिज्ञातन्त्र पर विशाल ग्रन्थ लेखकर इतिहास बना देने वाले कालजयी आचार्य रहे अभिनव गुप्त जिनका नाम काव्यशास्त्र के इतिहास में भी स्वर्णाक्षरों में लिखा जाता है क्योंकि साहित्यशास्त्र के अध्येता आनन्दवर्धन के '*ध्वन्यालोक*' को बीजग्रन्थ मानकर पढ़े बिना काव्यशास्त्र समझ ही नहीं पाते और *ध्वन्यालोक* की पहचान ही अभिनवगुप्त की लोचनटीका और अभिनवभारती से होती है। अभिनवगुप्त 950 ई. और 1000 ई. के बीच हुए माने जाते हैं और जिस प्रकार काव्यशास्त्र के आधारप्रणेता आचार्य माने जाते हैं उसी प्रकार शैवागम और प्रत्यभिज्ञा शास्त्र के भी मूलाधार विवेचक माने जाते हैं।

अभिनव गुप्त का *तन्त्रालोक* प्रत्यभिज्ञादर्शन का और शैवागमसाधना का विश्वकोष कहा जा सकता है क्योंकि इसमें सिद्धान्त, मन्त्रशास्त्र, साधना, कर्मकाण्ड, विधियाँ आदि विस्तार से बताई गई हैं। इन्हें अर्ध-त्र्यम्बक मत के प्रधान आचार्य शम्भुनाथ का शिष्य बताया गया है और मत्स्येन्द्रनाथ सम्प्रदाय का सिद्ध कौल योगी भी माना जाता है। इनके अनेक ग्रन्थ प्रत्यभिज्ञातन्त्र और शैवसाधना पर उपलब्ध हैं, प्रकाशित भी हैं। इनके प्रधान शिष्य क्षेमराज (975-1025 ई.) भी मूर्धन्य विद्वान् थे जिनके अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हैं।

विपुल वाङ्मय

अभिनव गुप्त के ग्रन्थों में जिस प्रकार तन्त्रालोक प्रसिद्ध है उसी प्रकार *ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी*, *तन्त्रसार, मालिनीविजयवार्तिक, परमार्थसार* और *परात्रिंशिका विवृति* भी पूर्णत: समादृत हैं। *श्रीमद्भगवद्गीता* पर लिखी इनकी *विवृत्ति* भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इन सबका प्रकाशन भी पृथक्-पृथक् स्रोतों से हो चुका है।

तन्त्रालोक में शैवागम के सिद्धान्त भी निरूपित हैं और साधनाविधि भी। इस पर जयरथ ने *विवेक* नामक विवृत्ति लिखी है जिससे अनेक स्थल स्पष्ट हो जाते हैं। तन्त्रालोक का अध्ययन गत दस शताब्दियों से विद्वानों द्वारा किया जाता रहा है। यह हर्ष का विषय है अन्यथा पिछली कुछ सदियों में कश्मीर क्षेत्र में राजनैतिक और सामाजिक पर्यावरण ने जो करवट ली है उसके कारण वहाँ से संस्कृत का वैदुष्य अलक्षित होता जा रहा है, पर्यटन वाला आकर्षण ही प्रमुख होता जा रहा है। इस कारण से इस शारदादेश की विद्वत् परम्परा और केसर क्यारियों की शास्त्रीय सुरभि इतिहास का अंग ही बनकर रह गई है। वहाँ राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान का एक परिसर अवश्य कार्यरत है और वहाँ की साहित्य समृद्धि का आकलन भारत के अन्य अंचलों में भलीभाँति हो रहा है यह अवश्य ही सन्तोष का विषय है।

यह भी कुतूहल एवं सन्तोष का विषय है कि तन्त्रशास्त्र की अन्य शाखाओं की तरह शैवागम पर भी विदेशी विद्वानों ने गहन अध्ययन किया है, लेखन किया है और आज भी विश्व के अनेक विश्वविद्यालयों में तन्त्रशास्त्र का अध्ययन हो रहा है। विदेशी विद्वानों ने जो प्रकाशन शृंखला चलाई है उसमें अनेक तन्त्रगत ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं और हो रहे हैं यह प्रसन्नता की बात है।

पूर्व अध्यक्ष, राजस्थान संस्कृत अकादमी तथा
पूर्व निदेशक संस्कृत शिक्षा एवं भाषाविभाग, राजस्थान सरकार
सी-8 पृथ्वीराज रोड, जयपुरम्-302001

वैष्णवागम सम्मत योग : एक विहंगावलोकन

योगेशप्रसाद पाण्डेय

समस्त आगमिक परम्पराओं के आधारभूत तन्त्र-साहित्य में प्रत्येक तन्त्रागम अपनी विषयवस्तु से चार भागों में प्रविभक्त है—'ज्ञान', 'योग', 'क्रिया' और 'चर्या'।[1] इससे यह सुस्पष्ट है कि तन्त्रागमों की आधारभूत विषयवस्तु का योग एक अनिवार्य विषय है। वैष्णवागमों में स्पष्ट रूप से योग का लक्षण बताते हुए मुनि मरीचि ने कहा है—"जीवात्मपरमात्मनोर्योगो योग इत्यामनन्ति।"[2] अर्थात् परमात्मा के साथ जीवात्मा के योग को योग कहते हैं।[3] पाञ्चरात्रागम में भी यही परिभाषा प्रतिपादित है। योग का यह लक्षण पतञ्जलि के 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:'[4] इस लक्षण से सर्वथा भिन्न तथा विलक्षण है।

पाद्मसंहिता के अनुसार योगयुक्त को नि:श्रेयस प्राप्त होता है।[5] वस्तुत:, यही योग का प्रयोजन है। *श्रीप्रश्नसंहिता* के अनुसार जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि का नाश, नाना मार्गों से दुष्प्राप्य कैवल्य-पद की प्राप्ति एवं सर्वग, सर्वसाक्षी, निष्कल, निर्मल, शान्त, सर्वातीत निरञ्जनरूप परब्रह्म की उपलब्धि का साधक भी योग ही है।[6] *पाद्मसंहिता* ने भी प्राय: योग को इसी रूप में इन सबका साधक कहा है।[7] योगहीन ज्ञान से मोक्ष की उपलब्धि सम्भव नहीं है। अत:, मोक्षकामियों के लिए योग का विशद एवं सम्यक् ज्ञान नितान्त आवश्यक है।[8] योग का सार इस प्रकार प्रतिपादित है—

मन्त्रे योगो लयश्चैव तथा परिचय: स्मृत:।
निष्पत्तेश्चेत्यवस्थाश्च योगेषु परिकीर्त्तिता:।।[9]

अर्थात्, योग की ये उपर्युक्त 1. मन्त्रयोग, 2. लययोग, 3. परिचय, तथा 4. निष्पत्ति—ये चार अवस्थाएँ होती हैं। अल्पबुद्धि साधकाधम मातृकायुक्त मन्त्र का बारह वर्षों तक जपकर अणिमादि गुणों को प्राप्त करता है। लययोग कोटिश: कहे गये हैं।[10] यहाँ जाते हुए, स्थिर रहते हुए, सोते हुए, प्रत्येक अवस्था में निष्कल ब्रह्म का ध्यान होना बताया गया है। इसके अतिरिक्त यम, नियम आदि भेदयुक्त हठयोग का निर्देश किया गया है।[11]

योगसाधना के स्थान का निर्देश करते हुए जनसंघात से रहित स्थान को स्वीकार करना कहा है। यह प्रदेश सुविविक्त, शुचि, नि:शलाक तथा मनोरम होना आवश्यक है। आसन के लिए मृद, दारु, दर्भ अथवा कृष्णाजिनमय आसन का स्वीकार विहित है। इनमें किसी एक आसन पर आसीन होकर प्राणायामादि द्वारा योगक्रिया का सम्पादन किया जाता है।[13] *लक्ष्मीतन्त्र* के अनुसार यमादि परिशोधित आराधक को पद्म या

स्वस्तिक चक्रासन लगाकर नाड़ीमार्गों के निपीडन द्वारा वायु को जीतकर जितेन्द्रिय धारणाओं में श्रम के साथ लक्ष्मी के स्वरूप का ध्यान करना चाहिए। लक्ष्मी का स्वरूप वराभयप्रद होता है, अथवा नारायण के अङ्ग में स्थित सामरस्योपगत चिदानन्दमयी लक्ष्मी देवी का ध्यान करना चाहिए। इस ध्यानक्रम में जब ध्याता, ध्यान तथा ध्येय ये तीनों एक हो जाते हैं, तब उसी स्थिति में योग की पूर्णता हो जाती है। इस प्रकार योग से श्रान्त साधक जप तथा पुन: जन से श्रान्त होने पर योगाभ्यास करता है।[13]

योग दो हैं—1. कर्मयोग तथा 2. ज्ञानयोग। कर्त्तव्य के सम्पादन हेतु विहित चित्तबन्धन को कर्मयोग कहते हैं। श्रेयस् अर्थ में सतत चित्त के निबन्ध को ज्ञानयोग कहते हैं। जिस योग द्वारा मन का सतत भगवान् में नियोजन किया जाता है, उससे अन्त में मोक्ष की प्राप्ति होती है—

कर्म कर्त्तव्यमित्येवं विहितेष्वेव कर्मसु।
बन्धनं मनसो नित्यं कर्मयोग: स उच्यते।।

यत्तु चित्तस्य सततं अर्थे श्रेयसि बन्धनम्।
ज्ञानयोग: स विज्ञेय: सर्वसिद्धिकर: शुभ:।।

यस्योक्तलक्षणे योगे द्विविधेऽवस्थितं मन:।
स याति परमं श्रेयो मोक्षलक्षणमञ्जसा।।[14]

अहिर्बुध्न्यसंहिता में प्रवर्तक विवर्तक दो प्रकार के कर्म निरूपित हैं—

एकं प्रवर्तकं प्रोक्तं निवर्तकमथापरम्।।
निवर्तकाख्यं देवर्षे विज्ञेयं मोक्षसाधनम्।।[15]

योगाङ्ग का परिगणन करते हुए भगवान् अहिर्बुध्न्य कहते हैं—

अष्टाङ्गन्यस्य वक्ष्यामि पृथक् तानि निशामय।
यमश्च नियमश्चैवमासनं तदनन्तरम्।।
प्राणायामस्तत: प्रोक्त: प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यानं तथा समाधिश्चाप्यङ्गान्येतानि नारद।।[16]

अर्थात् योग के आठ अङ्गों का पृथक्-पृथक् स्वरूप यम, नियम, आसन उसके बाद प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि है। वैखानस आगम से भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है।[17]

यम के स्वरूप का निरूपण इस प्रकार प्रतिपादित है—

सत्यं दया धृति: शौचं ब्रह्मचर्यं क्षमार्जवम्।
मिताहारस्तथास्तेयमहिंसेति यमा दश।।[18]

सत्य, दया, धैर्य, शौच, ब्रह्मचर्य, क्षमा, आर्जव, मिताहार, अस्तेय और अहिंसा—ये दश यम कहलाते हैं। *योगसूत्र* में यम के पाँच ही भेद हैं।[19]

नियम का स्वरूप इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है—

सिद्धान्तश्रवणं दानं मतिरीश्वरपूजनम्।
सन्तोषस्तप आस्तिक्यं ह्रीर्जपश्च तया व्रतम्।। [20]

महर्षि मरीचि के अभिमत में नियम को दस गुणों से युक्त बताया है—1. तप, 2. सन्तोष, 3. आस्तिक्य, 4. दान, 5. विष्णु-अर्चन, 6. वेदार्थश्रवण, 7. कुत्सित कर्म में लज्जा, 8. गुरु के उपदेश में श्रद्धा, 9. मन्त्रों का अभ्यास तथा 10. होम। इस प्रकार हम देखते हैं कि पातञ्जल योग के यम, नियम के भेद से यहाँ पर कुछ अतिरिक्त स्वरूप प्राप्त होता है—

शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। [21]

यम तथा नियम के बाद योग के तीसरे अङ्ग आसन की चर्चा इस प्रकार दी गई है—

चक्रं पद्मासनं कूर्मं मायूरं कौक्कुटं तथा।[22]
वीरासनं स्वस्तिकं च भद्रं सिंहासनं तथा।।
मुक्तासनं गोमुखं च मुख्यान्येतानि नारद।। [23]

आसन के बाद योग का चतुर्थ अङ्ग प्राणायाम का स्वरूप इस प्रकार है—

रेचनं पूरणं वायोः रोधनं रेचनं तथा
चतुर्भिः क्लेशनं वायोः प्राणायाम उदीरितः।। [24]

प्राणायाम के उपरान्त योग के पञ्चम अङ्ग प्रत्याहार का लक्षण इस प्रकार प्रतिपादित है—

शब्दादिष्वनुरक्तानि ग्राह्यण्यक्षाणि योगवित्।
कुर्याच्चित्तनुकारीणि प्रत्याहारः प्रकीर्त्तितः।। [25]

नारदीयसंहिता में धारणा की परिभाषा इस प्रकार प्रतिपादित की गई है—

शुभे ह्येकत्र विषये चेतसो यच्च धारणम्।
निश्चलेन तु योगीन्द्रैः धारणा तु समीरिता।। [26]

धारणा के स्वरूप-वर्णन के उपरान्त अष्टाङ्गयोग में ध्यान का वर्णन करते हुए इसका लक्षण इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है—

तदेवं धृतचित्तस्तु चक्ररूपं जनार्दनम्।
ध्यायीत नियतस्तस्मिन् युञ्जानः प्रथमं मनः।।[27]

धारणा के उपरान्त योग के अन्तिम अङ्ग समाधि के स्वरूप का निरूपण करते हुए उसकी परिभाषा इस प्रकार व्यक्त की गयी है—

तस्यैव कल्पनाहीनं स्वरूपग्रहणं हि यत्।
मनसा ज्ञाननिष्पाद्यं समाधिः सोऽभिधीयते।। [28]

उपर्युक्त विवेचना के अनन्तर यह तथ्य प्राप्त होता है कि प्रत्येक मोक्षाभिलाषी को चित्त निर्मलता के साथ ही परमध्येय 'वासुदेव' के ध्यान का विधान निर्दिष्ट है जो अपने सिद्धान्त की पुष्टि करता है जबकि *पातञ्जल योगसूत्र* में 'ॐकार' को ध्येय स्वीकारा गया है। वैष्णवागमीय योगप्रक्रिया में लक्ष्य और साधना प्रणाली में योगदर्शन में विषयों में कोई मौलिक भेद नहीं है।[29]

सन्दर्भ

1. 'ज्ञानचर्याक्रियायोगशुभपादचतुष्टयम्।' *ईशानशिवगुरुदेव पद्धति,* भाग 1, भूमिका, पृ. 1-2, *पाद्मसंहिता, मतङ्गपारमेश्वरतन्त्रम्।*
2. *विमानार्चनकल्प,* पटल 96
3. संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः। — *अहिर्बुध्न्यसंहिता,* 31/15
4. *योगसूत्र*, 1/2
5. (क) *विमानार्चनकल्प*, पटल 96
   (ख) *नारदीय संहिता*, 30/9-20
6. *पाद्मसंहिता*, योगपाद, 1/1
7. *श्रीप्रश्नसंहिता*, 13/3-5
8. *पाद्मसंहिता*, योगपाद, 5/30-31
9. *श्रीप्रश्नसंहिता,* 13/7-8
10. *श्रीप्रश्नसंहिता, 13/13-17*
11. *श्रीप्रश्नसंहिता, 13/16-70*
12. (क) *पाद्मसंहिता*, योगपाद, 3.2
    (ख) *विष्णुतिलकसंहिता*, 4/57
    (ग) *विष्णुतन्त्र*, 28-37
13. *श्रीप्रश्नसंहिता, 17/63-67*

14. *पाद्यसंहिता*, योगपाद, 1/4-6
15. *अहिर्बुध्न्यसंहिता,* 31/13-14
16. *अहिर्बुध्न्यसंहिता,* 31/16-17
17. *विमानार्चनकल्प*, पटल 96
18. *अहिर्बुध्न्यसंहिता, 31/18*
19. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा: यमा:।
— *योगदर्शन,* साधनपाद-30
20. *अहिर्बुध्न्यसंहिता,* 31/24
21. *योगदर्शन*, साधनपाद-32
22. *अहिर्बुध्न्यसंहिता,* 31/31
23. *अहिर्बुध्न्यसंहिता,* 31/32
24. (क) *विष्णुतिलकसंहिता*, 4/63-69
(ख) *पाद्यसंहिता*, योगपाद,3/8-14
25. *नारदीय संहिता*, 30/16-17
26. *नारदीय संहिता*, 20/17-18
27. *अहिर्बुध्न्यसंहिता,* 32/59
28. *नारदीय संहिता*, 30/19-20
29. 'तस्य वाचक: प्रणव:' समाधिपाद, *योगदर्शन।*

शोधछात्र,
वैदिकदर्शन विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी-221005

कुण्डलिनी जागरण की आगमिक प्रक्रिया

डॉ. रमाकान्त मिश्र

हठ तथा तान्त्रिक साधना में कुण्डलिनी शक्ति का विशेष महत्व है। कुण्डलिनी का जागरण तान्त्रिक साधना का परम लक्ष्य है। कुण्डलिनी शक्ति का विशेष वर्णन हठ तन्त्र के ग्रन्थों में भी मिलता है। इनमें कुण्डलिनी द्वारा षट्चक्रों के भेदन की प्रक्रिया बतलाई गई है। हठतन्त्र में आसन मुद्रा का विशेष स्थान है, जिनके द्वारा कुण्डलिनी को जाग्रत् कर ऊर्ध्वमुखी किया जाता है साथ ही सब कुछ गुरु कृपा पर भी निर्भर करता है। अतः यहां गुरु का विशेष महत्व है। यदि गुरु की कृपा दृष्टि है तो वह आसनादि का अभ्यास न करने वाले व्यक्ति की भी कुण्डलिनी जाग्रत् कर देता है। जिसे तान्त्रिक शब्दावली में शक्तिपात कहते है। इसके बाद आसन एवं मुद्राएं अनायास होने लगती है। *सौन्दर्य लहरी* में भी कुण्डलिनी का वर्णन मिलता है। कुण्डलिनी शक्ति शरीर के भीतर अवस्थित है, जो ऊर्ध्वगामिनी होती हुई षट्चक्रों का भेदन करती हुई सहस्रसार में बिन्दु रूपी शिव से सामरस्य प्राप्त करती है। यह योगसाधना की चरमावस्था है, जिसे अद्वैत की परम स्थिति कहते हैं।

कुण्डले अस्याः स्त इति कुण्डलिनी।[1]

अर्थात् जिसके दो कुण्डल हैं, वह कुण्डलिनी है। ये दो कुण्डल इडा और पिङ्गला नाडियां हैं। इन दोनों नाडियों के मध्य में सुषुम्णा नाड़ी अवस्थित है। इस सुषुम्णा नाड़ी के भीतर भी कई नाडियां हैं जिनमें चित्रिणी नाड़ी में होकर कुण्डलिनी का मार्ग है। अतः सुषुम्णा नाड़ी के दोनों और स्थित इडा और पिंगला नाडियां ही इसके दो कुण्डल है।

कुण्डलिनी चित्शक्ति का ही रूप है। यह सर्प के समान कुण्डली मारे रहती है। कुण्डलिनी के कुटिल आकार के कारण ही इसे सर्पवत् भुजङ्गी अथवा नागिनी शक्ति आदि कहते हैं। इसकी तिर्यक् गति के कारण भी इसे सर्पाकार या वलयाकार कहते है। यह साढे तीन घेरे में अपने को लपेट कर अपनी पूंछ को मुख में दबाकर ब्रह्मदार का मुख बन्द करके स्वयंभू लिंग पर स्थित है। यह मृणालतन्तु के समान अत्यन्त सूक्ष्म है।[2]

षट्चक्र निरूपण में इसका जगन्मोहिनी स्वरूप वर्णित है। साथ ही यह विद्युत् के समान कही गई है। विद्युत् से इसके प्रकाश रूप का बोध होता है। सर्प तथा विद्युत् दोनों का तिर्यक् गमन प्रत्यक्षसिद्ध है। मैडम बलैवेट्स्की का मत है कि कुण्डलिनी की गति की उपेक्षा अधिक तीव्र हैं।[3]

देवी पुराण में कुण्डलिनी को सिंघाडे के आकार का कहा है—

यतः शृङ्गाटकाकारा कुण्डलिन्युच्यते ततः।[4]

सिंघाडा त्रिकोण के आकार का होता है। त्रिकोण इच्छा, ज्ञान और क्रिया—इन तीनों शक्तियों का प्रतीक है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति रूप अवस्थात्रय प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय, सत्त्व, रज और तमस् इत्यादि त्रिक भी त्रिकोण के अन्तर्गत हैं।[5]

कुण्डलिनी को अष्ट प्रकृति रूपा भी कहा गया है। कुण्डलिनी की ये अष्ट प्रकृतियां भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार रूप है। मूलाधार में कुण्डलिनी की स्थिति उसके आधार शक्ति के स्वरूप को प्रदर्शित करती है। वह सभी पदार्थों को आश्रय देती हुई उनकी, मूल सत्ता के रूप में विद्यमान है। यह कुण्डलिनी शक्ति चैतन्य सम्पादन करने के कारण निरालम्ब होकर शुद्ध चित्तस्वरूप में स्थित हो जाती है। यदि यह आधारशून्य हो जायेगी तो संसार की वस्तुएं भी आधारहीन हो नष्ट हो जायेंगी। *हठ प्रदीपिका* के अनुसार जिस प्रकार पर्वतों तथा वनों से युक्त सम्पूर्ण पृथ्वी का आधार शेषनाग है, उसी प्रकार सभी योग तन्त्र का आधार कुण्डलिनी है।[6] गुरु के प्रसाद से जब यह प्रसुप्त कुण्डलिनी जाग जाती है, तब सभी पद्म (मूलाधारचक्र) तथा सभी ग्रन्थियां खुल जाती है।

कुण्डलिनी शरीर में शब्दब्रह्म स्वरूप है। यह चिद्रूप है। *लघुस्तव* में शक्ति को विश्वजननी कहना इसी भाव का सूचक है।

शक्तिः कुण्डलिनी विश्वजननी व्यापारबद्धोद्यता।[7]

मातृकाएँ मातृभाव की व्यंजक हैं। इस रूप में कुण्डलिनी और परावाक् एक ही तत्व है। पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी इसकी तीन अवस्थाएं हैं।

कुण्डलिनी का मदमत्त भ्रमरों के समान गुंजार वैखरी वाक् को व्यक्त करता है। यही जीव में प्राण शक्ति के रूप में शरीर धारण करती है। कुण्डलिनी के शब्दब्रह्म रूप होने के कारण प्रणव उसका वाचक है। वाचक और वाच्य में अभेद होने से कुण्डलिनी प्रणव स्वरूप है। कुण्डलिनी के साढे तीन घेरे अकार उकार और मकार के तथा आधा घेरा अर्धमात्रा का प्रतीक है। ॐकार और उमा दोनों में समान वर्ण हैं। अतः उमा, ॐकार और कुण्डलिनी मूलतः एक ही तत्व है।[8]

मन्त्रों की रचना मातृकाओं द्वारा होती है, ये मातृकाएं नाद रूप हैं। कुण्डलिनी का शब्दब्रह्मत्व पूर्व में प्रतिपादित किया है। यह कुण्डलिनी देवी के मन्त्रात्मक रूप का प्रतीक है। पञ्चदशमन्त्र त्रिखण्डात्मक होता है। इस त्रिखण्डात्मक मन्त्र से सम्बद्ध होने के कारण ही कुण्डलिनी को मूलाधार में अग्नि कुण्डलिनी, हृदय देश में सूर्य कुण्डलिनी और भ्रूमध्य में सोम कुण्डलिनी की संज्ञा प्राप्त है। समष्टि कुण्डलिनी का स्थान मूलाधार के नीचे स्थित वाग्भव त्रिकोण में है। इस वर्गीकरण से ऊर्ध्वमुखी कुण्डलिनी की तीन अवस्थाएं प्राप्त होती हैं,

जिसका स्पष्टीकरण कुण्डलिनी की कुमारी, योषित् और पतिव्रता—ये तीन अवस्था उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि करती हैं।[9]

वाग्भव बीज को भी कुण्डलिनी कहते हैं। वाग्भव बीज है—ऐं। यह भी त्रिकोणाकार है। इसके अतिरिक्त ऐं शिव-शक्ति के सामरस्य का भी बोधक है। तन्त्र शास्त्र की मान्यता के अनसार अ है शिव और ई शक्ति का वाचक है। अ+ई=ऐ। बिन्दु द्वारा उसके पर रूप की अभिव्यक्ति होती है। कुण्डलिनी प्रधानतया क्रिया शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है। कुण्डलिनी मुख्य रूप से क्रिया शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है।

तन्त्र में भोग और मोक्ष दोनों को स्वीकार किया गया है। भगवती त्रिपुरसुन्दरी को कामेश्वरी कहा गया है अर्थात् जो काम की अधिष्ठात्री है। भगवती का यह रूप उनके विश्व जननी रूप को प्रकट करता है। तान्त्रिक साधना वासनाओं को दबाने में नहीं अपितु उनके उदात्तीकरण में विश्वास रखती हैं। यह प्रक्रिया शरीर क्रिया विज्ञान एवं जैवरसवाद पर आधारित है। वैज्ञानिकों का यह निश्चित मत है कि कुण्डली वास्तव में शक्ति का ही रूप है। विश्व के सभी किया व्यापार शक्ति के ही अधीन है। कुण्डलिनी प्राण शक्ति के रूप में शरीर को धारण करती है। वहीं इच्छा, ज्ञान और किया रूप में समस्त कार्यों का संचालन करती है।

कुण्डलिनी जागरण

कुण्डलिनी जागरण के साधनभूत दो उपाय हैं हठ और लययोग। हठ में। मूलबन्ध, उड्डीयान बन्ध, जालन्धर बन्ध, बज्रोली आदि मुद्राओं के अभ्यास द्वारा पेशी और स्नायु का संकोच करके कुण्डलिनी को प्रबुद्ध करना पड़ता है। लययोग में नाद धारण द्वारा मुख्यतः यह किया जाता है। नाद आहत और अनाहत भेद से दो प्रकार का होता है। वाक्यरूप आहत नाद परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी और मातृका भेद से पांच प्रकार का है। पहले मूलाधार में परा नामक सूक्ष्म चेष्टा होती है। इसमें श्वास एवं प्रश्वास में गुह्यदेश स्वभावतः संकुचित होता है। उसके पश्चात् स्वाधिष्ठान में पश्यन्ती रूप (उदर संकोचन) किया होती है। वक्षस्थल में (फुफ्फुस संकोचन) किया होती है, वह मध्यमा भूमि है। इसके पश्चात् कण्ठ तालु में होने वाली क्रिया का फल है वैखरी। ये सम्पूर्ण कुण्डलिनी के कार्य हैं। इस प्रकार वाक्य के साथ सम्बन्ध रहने के कारण हुम् बीज द्वारा कुण्डलिनी को प्रबुद्ध करना चाहिए।[10]

कुण्डलिनी प्रबोध के समय ऐसी अनुभूति होनी चाहिए कि पीठ के अन्दर नीचे से ऊपर तक एक धारा उठ रही है।[11]

अनाहतनाद दो प्रकार का है। एक कान से सुना जाता है और दूसरा शरीर में ऊर्ध्वगामी धारा के रूप में उसका अनुभव होता है। इस अनाहत नाद के द्वारा हे कुण्डलिनी को अभ्यास द्वारा मस्तक तक उठाना पड़ता है। वह बिन्दु रूप में परिणत होता है। तात्पर्य यह है कि नाद ही घनीभूत होकर बिन्दुत्व प्राप्त करता है। केशाग्र के कोटिभाग एक भाग रूप सूक्ष्म तेज बिन्दु कहलाता है। यह नाद शिव शक्ति का सामरस्य रूप है।

सौन्दर्यलहरी में भी लय प्रक्रिया द्वारा कुण्डलिनी साधना को समझाया गया है। इसके अन्तर्गत षट्चक्र भेदन की प्रक्रिया आती है। षट्चक्र भेदन के रूप में भगवती की आन्तर उपासना की गई है, यही श्रीविद्या सम्प्रदाय में समयाचार के नाम से अभिहित है। श्रीविद्या सम्प्रदाय में षट्चक्रों एवं श्रीचक्र में ऐक्य प्रतिपादित हैं। समयाचारी इन चक्रों में ही भगवती का ध्यान करते हैं। षट्चक्रों को तीन खण्डों में विभक्त किया गया है। प्रथम खण्ड में मूलाधार और स्वाधिष्ठान चक्र है। यह अग्निखण्ड है। इस पर रूद्र ग्रन्थि है। मणिपूर और अनाहत चक्र रूप द्वितीय खण्ड है। जो सूर्य खण्ड है। इस पर विष्णु ग्रन्थि है। कुण्डलिनी का मार्ग इन्हीं चक्रों में से होकर जाता है। इन तीनों ग्रन्थियों (गांठो) का भेदन करते हुए ही कुण्डलिनी ऊर्ध्व संचरण करती है। सहस्रार ब्रह्म लोक है। वहां पहुंचने पर शिव के साथ सायुज्य की प्राप्ति होती है। यह लोकातीत परम पद है। यहां यह शंका होती है कि कुण्डलिनी के ऊर्ध्व गामिनी होने पर मूलाधार आदि में शक्ति का अभाव हो जायेगा। ऐसी स्थिति में शक्ति एकदेशीय हो जायेगी। इस सम्बन्ध में स्वामी विष्णुतीर्थ जी[12] का मानना है कि मूलाधार आदि में अनन्त शक्ति है, इसलिए वहां पर रहने वाले भण्डार में कभी कमी नहीं होती। जागकर शक्ति ऊपर भी आती जाती रहती है ओर नीचे भी बनी रहती है। क्योंकि यदि सारी शक्ति सहस्रार में उठ जाये तो उत्थान के साथ शरीर का आधार न रहने के कारण उसे तुरन्त प्रतीपप्रसव कम से लीन हो जाना चाहिए। अतः यह कहना अधिक उचित होगा कि कुण्डलिनी पूर्णतया सुप्त नहीं है। वह आंशिक रूप से जाग्रत् है। हमारे विविध क्रिया कलापों में अर्थात् नाद रूप में अथवा बोधन आदि कार्यों में उसका परिचय मिलता है। किन्तु यह उस शक्ति की वास्तविक क्षमता के अनुपात में अत्यल्प है। मात्र इतने के द्वारा मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार नहीं कर पाता है। इसके लिए उस शान्त शक्ति को क्रियाशील करना पड़ता है। अतः उसे कुण्डलिनी का जागरण कहते है।[13]

ललितासहस्रनाम में ब्रह्मग्रन्थि का स्थान मूलाधार पर, विष्णुग्रन्थि का स्थान मणिपूरकचक्र पर तथा रुद्रग्रन्थि का स्थान आज्ञा चक्र के ऊपर बताया है। भूतजन्य होने पर रुद्रग्रन्थि, इन्द्रियजय होने पर ब्रह्मग्रन्थि और मनोजय होने पर विष्णुग्रन्थि का वेध समझना चाहिए।[14]

कुण्डलिनी शक्ति जिसे आधार कुण्ड में सोता हुआ बताया है। वह कुण्ड अमृत से परिपूर्ण रहता है अर्थात् सूर्य किरणों के सम्पर्क से चन्द्रमा से जो अमृत प्रवाहित होता है उसी से कुलकुण्ड परिपूर्ण रहता है। योगी जब समाहित चित्त होकर चन्द्रमा को चन्द्रस्थान (आज्ञाचक्र में) तथा सूर्य को सूर्य स्थान (अनाहत चक्र के ऊपर) में निरूद्ध कर देता है उस समय चन्द्रमा द्वारा अमृत का वर्षण और सूर्य द्वारा उसका आहरण दोनों कियाएं बन्द हो जाती हैं। यह कुम्भक की स्थिति है अर्थात् जब प्राण और अपान वायु सम स्थिति में होती हैं, उस समय वायु द्वारा प्रेरित स्वाधिष्ठानगत वह्नि से शुष्क हुए अमृत कुण्ड में निराहारा कुण्डलिनी शक्ति जाग जाती है तथा सर्प के समान फुफकारती हुई तीनों ग्रन्थियों का भेदन कर सहस्रदल कमल में स्थित चन्द्रमण्डल में छेद कर देती है। जिसके परिणामस्वरूप चन्द्रमा से अमृत वर्षण होने लगता है, जिससे अङ्ग प्रत्यङ्ग आप्लावित हो जाता है।[15]

यहां पर पुरुष ही सहस्रार में स्थित शिव है, जिसे सौन्दर्यलहरी में पति रूप में सम्बोधित किया है। कुण्डलिनी की इन तीन अवस्थाओं को कुमारी, योषित् और पतिव्रता कहा जाता है। अर्थात् शक्ति जब आधार कुण्ड से उठती है तो वह कुमारी है। यह उसकी बाल्यावस्था है। इस समय यह मन्द-मन्द ध्वनि करती है, इसे ही सर्पिणीवत् फुफकारना कहते हैं। कर्णछिद्रों को अंगुलियों से बन्द करने पर यह ध्वनि सुनी जा सकती है। मूलाधार का त्याग करने पर वह युवती सदृश है तथा सहस्रारस्थ शिव से सायुज्य प्राप्त कर वह प्रतिव्रता बन जाती है।

कुण्डलिनी द्वारा चन्द्रमण्डल में छेद करने का जो उल्लेख है, उसी को *सौन्दर्यलहरी* में चरण युगों के मध्य से प्रवाहित सुधाधारा से सम्पूर्ण प्रपञ्च का सिञ्चन कहा है। यही देवी षट्चक्रों के ऊपर सहस्रार में विद्यमान है, जो अग्नि, सूर्य और चन्द्र तीनों की कलाओं से संयुक्त रहती है। वास्तव में सूर्य, चन्द्र और अग्नि देवी के चरणों से ही प्रकाश प्राप्त करते हैं।[16] कुण्डलिनी आरोहण के समय इन तीनों खण्डों का भेदन करती हुई सहस्रार तक पहुंचती है।

हठ तन्त्र में भी कुण्डलिनी जागरण की प्रकिया इसी प्रकार वर्णित है। इतन्त्र में मूलबन्ध, जालन्धर बन्ध और उड्डीयाण बन्ध इन तीनों का कुण्डलिनी जागरण में विशेष महत्व बतलाया गया है। इनके साथ वज्रोली, सहजोली, इत्यादि क्रियाएं भी की जाती है। मूलबन्ध में साधक दोनों पावों में से किसी भी एक की एडी से गुदा एवं लिङ्ग के मध्य भाग को दबाकर गुदा का आकुञ्चन करते हुए अपान वायु को ऊपर खींचता है। इसी को मूलबन्ध कहते हैं। अर्थात् इसमें अपान वायु को ऊर्ध्वगामी किया जाता है जब इस बन्ध के अभ्यास से अपान वायु ऊर्ध्वगामी हो जाता है तब वह वह्निमण्डल अर्थात् उदर की जठराग्नि में जा पहुंचता है। अपान वायु से आहत जठराग्नि और अधिक प्रदीप्त हो जाती है। तब अग्नि अत्यन्त प्रदीप्त हो जाती है। जब प्राण वायु और अपान वायु का घर्षण होता है तब सोई हुई कुण्डलिनी सन्तप्त होकर जाग जाती है तथा दण्ड से आहत हुई सर्पिणी की तरह फुफकारती हुई सीधी हो जाती है और ब्रह्मनाडी में प्रवेश करती है।[17] इस प्रकार कुण्डली-जागरण की प्रक्रिया सम्पन्न होती है।

सन्दर्भ

1. शब्दकल्पद्रुम,
2. *सौन्दर्य लहरी* - 21 चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी
3. *सौन्दर्य लहरी* - 10 चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी
4. *कल्याण योगांक*, पृष्ठ 403 - गीता प्रेस, गोरखपुर
5. *सौन्दर्य लहरी* - 173 चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी *योगिनी हृदयम्* 1/51 - सम्पादक ब्रजबल्लभ द्विवेदी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।
6. *हठ प्रदीपिका* 3/01 - कैवल्यधाम, लोनावला (पुणे)

7. *लघुस्तव*: - 2
8. *षट्चक्र निरूपण* - 11 कृष्णा प्रकाशन, वाराणसी
9. *सौन्दर्य लहरी और तन्त्र विद्या* - 195 चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी
10. *षट्चक्र निरूपण* - 52 कृष्णा प्रकाशन, वाराणसी
11. *सौन्दर्य लहरी* - 9 चौखम्बा: प्रकाशन, वाराणसी
12. वहीं - विष्णु तीर्थ टीका - पृ.स. 100
13. वहीं - लक्ष्मीधर टीका - श्लोक 33
14. *ललिता सहस्रनाम* - 89-90
15. *सौन्दर्य लहरी* - 32 चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी
16. वहीं, 14
17. *हठ प्रदीपिका* - 3/65-68 - कैवल्यधाम, लोनावला

योगप्रशिक्षक, योगकेन्द्र,
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर-302004
दूरभाष : 9414251622

भक्तिसूत्रों में प्रतिपादित भक्ति का विशिष्ट स्वरूप

डॉ मोनिका वर्मा

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

परमात्मा पूर्ण है और उसका स्वरूप जगत् भी पूर्ण है। परन्तु जगत् की प्रतीति परमात्मा की मायाशक्ति की दो प्रमुख शक्तियाँ आवरण और विक्षेप से होती है।[1] आवरण और विक्षेप के कारण जगत् और ब्रह्म के मध्य भेद की प्रतीति होती है। अत्यन्त सुदुर्लभ मानवजन्म की प्राप्ति ही इसीलिये होती है कि वह आवरण और विक्षेप के बन्धनों का भेदन कर परमात्मा से सायुज्य का अनुभव करें। आवरण और विक्षेप की भञ्जना का जो भाव होता है वह कालान्तर में भक्ति का सूत्रपात करता है। आत्मा और परमात्मा के रूप में प्रसृत वस्तुतः द्वैत का विचार ही भक्ति का सूत्रपात करता है जिसका परिपाक अद्वैत अथवा परमेश्वर से सायुज्य है।

भक्ति की ऐतिहासिकता की चर्चा की जाये तो भक्ति का इतिहास वहीं से प्रारम्भ होता है जहाँ आराध्य-आराधक भावना की बीज प्रसूत होता है। इस दृष्टि से तो *ऋग्वेद* का प्रथम मन्त्र ही भक्ति की स्थापना करता है क्योंकि प्रथम मन्त्र में ऋषि का अग्नि के प्रति स्तोता और स्तुतिभाव व्यक्त हो रहा है—

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवं ऋत्विजं होतारं रत्नधातमम्।।[2]

अर्थात् मैं देवों में सर्वप्रथम, यज्ञ के देव, ऋत्विक् होता, रत्नधारण करने वाले अग्निदेव की स्तुति करता हूँ। उक्त मन्त्र में ईळे यह पद ऋषि और अग्नि के मध्य आराध्याराधकभाव को स्पष्ट व्यक्त कर रहा है, यही भक्ति का भाव है । परमतत्त्व आनन्दघनस्वरूप है—**आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्**[3] अथवा **एष परम आनन्दः**[4] जब परमात्मा आनन्दरूप है तो उसे किसी भौतिक साधन से तो जाना ही नहीं जा सकता, वह तो केवल भावरूपसाधन से ही गम्य हो सकता है। आनन्दस्वरूप होने के कारण भक्ति के माधुर्य में स्वयं वह परमतत्त्व ओतप्रोत है। ज्ञान के तर्क हो या कर्म की कामुकता, भक्ति में सभी अन्तर्निहित हैं। भक्ति तो ज्ञान और कर्म का भी अतिक्रमण करने वाली है इसीलिये शङ्कराचार्य सरीखे परम ज्ञानी भी भक्तिस्तोत्रों की रचना कर भक्ति की रसमाधुरी का आस्वादन करते हुए तृप्ति को प्राप्त करते है और परमात्माश्रीकृष्ण श्रीराम आदि के रूप में अनेक लीलाओं को करते हैं जिससे उनके प्रति प्रेम अथवा समर्पणभाव रखने वाले कृपापात्र जन परमानन्द का रसास्वादन कर अपने जीवन को तृप्त कर सके।

यदि भक्ति की विचारणा की जाती है तो भक्त नारद बरबस स्मृतिपटल पर उपस्थित हो उठते हैं। पुराण और महाभारत की कथा इन्हें ब्रह्मा के मानसपुत्र और परमभक्त के रूप में चित्रित करती है । संस्कृतवाङ्मय

इनके द्वारा प्रदत्त चतुरशीति भक्ति के सूत्रों से उपकृत है। इन 84 सूत्रों में भक्तिसम्बन्धित जिज्ञासाओं का समाधान किया गया है। इसी प्रकार शाण्डिल्य ने भी 100 सूत्रों में भक्ति को प्रस्तुत किया है।

भक्तिपद में भज् धातु और भाव अर्थ में क्तिन् प्रत्ययहै।[5] भज् धातु का अर्थ है—सेवा या प्रीति। प्रीति का अर्थ है हर्ष, आमोद या तृप्ति तथा सेवा का अर्थ है आराधना । सेवा या प्रीति नैर्वैषयिकी नहीं होती उसमें किसी ना किसी के विषय में चित्त में प्रीति उत्पन्न होती है इसलिये भक्ति के विषय में कहा गया कि—**परमेश्वरविषयिकान्तःकरणवृत्तिविशेषः भक्तिः।**[6] अर्थात् परमेश्वरविषयक अन्त:करण का विशेष व्यवहार भक्ति है। जब आराधना या सेवा की जाती है तो उस में आराध्यारधक भाव भी संपृक्त हो जाता है इसलिये भक्ति की व्युत्पत्ति के विषय में प्राप्त होता है—**आराध्यविषयकरागत्वमेव भक्तिः**[7] अर्थात् आराध्य के विषय में किया गया राग ही भक्ति है। *नारदीय भक्तिसूत्र* में भक्ति का लक्षण इस प्रकार कहा गया है—**सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा**[8] अर्थात् वह (भक्ति) इस ईश्वर में परमप्रेमस्वरूप वाली (भावना) है। भक्ति का स्वरूप कैसा है इसे स्पष्ट करते हुए कहते है—**अमृतस्वरूपा च**[9] अर्थात् वह भक्ति अमृतस्वरूप वाली है अर्थात् यदि एक बार हृदय में भक्ति आविर्भूत हो जाये तो वह कभी नष्ट नहीं होती। इस प्रकार नारद ने ईश्वर के प्रति अनन्यप्रेम को भक्ति माना है यह भक्ति का नामलक्षण है तथा उसका अमृतरूप होना भक्ति का स्वरूपलक्षण है। भक्ति के अन्य स्वरूपक्षण को कहते हैं—**निरोधस्वरूपा**[10] अर्थात् भक्ति में सभी कर्मों का निरोध हो जाता है यहाँ निरोध से तात्पर्य कर्मफल की आकाङ्क्षा का निरोध होना है। भक्ति को और अधिक स्पष्ट करते हुए नारदमुनि कहते हैं—**तदर्पिताखिलचारतातद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति**[11] अर्थात् मन, वचन तथा कर्म से कृत सभी कर्मो को भगवान् के अर्पण करना तथा भगवान् के विस्मरण में परम व्याकुलता भक्ति का लक्षण है।

शाण्डिल्य के अनुसार भक्ति का अर्थ है ईश्वर के प्रति परम अनुरक्ति या राग[12] भक्ति रागस्वरूपा क्यों है इस सन्दर्भ में शाण्डिल्य की युक्ति है—**द्वेषप्रतिपक्षभावाद्रसशब्दाच्च रागः**[13] अर्थात् भक्ति द्वेष की विरोधी है तथा शास्त्रों में भक्ति को रस कहा जाता है इसलिये भक्ति रागस्वरूपा है। इस प्रकार ईश्वर की लीला, गुण, रूप आदि का कथन, श्रवण, कीर्तन, स्मरण भक्ति कही जाती है। निरोधस्वरूपाभक्ति राग, मोह, द्वेष आदि का भञ्जन करती है अतः भञ्जन को भक्ति कहा जाता है क्योंकि यह समस्त संसार ईश्वर का ही रूप है—

ऋषयो मनवो देवा मनुपुत्रा महौजसः।
कलाः सर्वे हरेरेव सप्रजापतयस्तथा॥[14]

ईश्वर के प्रति सेवा या प्रीति करने से जीव उस अमृतस्वरूप ईश्वर का भाग है ऐसा बोध होता है अतः भाग को भी भक्ति कहा गया है। इसके अतिरिक्त नारद ने सूत्र संख्या 16 से 19 तक विविध आचार्यों द्वारा प्रदत्त भक्ति के लक्षणों का उल्लेख किया है।[15] शाण्डिल्य भी भक्ति के लक्षणों को सूत्रित करते हैं—**सम्मानबहुमानप्रीतिविरहेतरविचिकित्सामहिमख्यातितदर्थपप्राणस्थानतदीयता-सर्वतद्भावापप्रतिकूल्यादीनि च स्मरणेभ्यो बाहुल्यात्॥**[16] अर्थात् भगवन्नाम का सम्मान, अत्यधिक आदर, प्रीति, विरहानुभूति, भगवान् के

प्रतिकूल विषयों से विरक्ति, महिमा का वर्णन, भगवान् के लिये जीवनधारण, समर्पण, सभी में भगवान् को देखना तथा भगवान् के प्रतिकूल आचरण न करना इत्यादि भाव भक्ति को इंगित करते हैं। अपने जीवन को भगवान् के प्रति जिस प्रकार से भी समर्पित किया जाये वे सभी मानसिक, कायिक एवं वाचिक उपक्रम एकांगी या सामूहिक रूप से भक्ति कहलाते है। *श्रीमद्भागवत* के अनुसार सर्वत्र भगवान् का दर्शन भक्ति है— **एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत् सर्वत्र तदीक्षणम्**[17] सर्वशास्त्र भक्तिरस में ओतप्रोत है, भक्ति से परम कोई नहीं है। यही कारण है कि सर्वशास्त्रज्ञाता वेदव्यास जी ने भक्तिरस के माधुर्य को श्रीमद्भागवत में रूप में ग्रथित कर परमानन्द को प्राप्त किया। भक्ति परम विलक्षण है। अनेक शास्त्रों के आलोड़न के उपरान्त भक्ति की निम्न विशेषताएँ ज्ञात होती है—

1. भक्ति ज्ञान की पराकाष्ठा है

मोक्ष भारतीयसंस्कृति में परमसाध्य के रूप में कहा गया है। मोक्षप्रदायक तीन साधन कहे गये हैं— ज्ञान, कर्म और मुक्ति। मुक्ति के उपक्रमों का यह घोष कि **ऋते ज्ञानान्मुक्तिर्नास्ति** ज्ञान की प्रशस्तता का सूचक है। ज्ञान का सामान्य अर्थ है जानना परन्तु यहाँ इस प्रसंग में ज्ञान का विशेष अर्थ ग्रहणीय है। अमरकोश के अनुसार—**मोक्षेधीर्ज्ञानमन्यत्र विज्ञानं शिल्पशास्त्रम्**[18] अर्थात् मोक्षपरक बुद्धि ज्ञान है तथा शिल्प एवं शास्त्रपरक बुद्धि विज्ञान कह गयी है। गीता में ज्ञान का लक्षण इस प्रकार कहा गया है—

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोन्यथा॥[19]

अर्थात् आध्यात्मज्ञान में नित्यता और सर्वत्र एकत्व का दर्शन करना यह ज्ञान है इसके विपरीत आध्यात्म ज्ञान में अनित्यता तथा सर्वत्र नानात्व का दर्शन करना अज्ञान है। मूलतः ज्ञानी जन सर्वतः एकतत्त्व का दर्शन करते हैं ज्ञानी जनों की प्रवृत्ति इस प्रकार निर्दिष्ट की गयी है—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञोस्तदोच्यते॥[20]

अर्थात् हे पार्थ जब प्राणी अपनी सभी मनोगत कामनाओं को त्याग देता है और स्वयं से ही स्वयं में संतुष्ट रहता है उस अवस्था में वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है। ज्ञानी का सबसे बड़ा लक्षण यह है कि वह प्रत्येक परिस्थिति में सम रहता है। वह न तो प्रतिकूल परिस्थिति में उद्वेलित होता है न ही अनुकूल परिस्थिति में प्रमत्त होता है, यही स्थितप्रज्ञता है। ज्ञानी में सासांरिक विषयों के प्रति उदासीनता दृष्टिगोचर होती है। वह त्रिगुणात्मक प्रकृति को जानता है अतः वह यथार्थद्रष्टा होता है।

कर्म सामान्यरूप से क्रिया या कार्य का वाचक होता है परन्तु इसके अन्य विशेष अर्थ भी प्राप्त होते हैं। न्यायवैशेषिकदर्शन में इसे सप्तपदार्थान्तर्गत तृतीय पदार्थ माना गया है।[21] जिसके पाँच भेद भी निर्दिष्ट किये

गये।[22] वेदान्त मत में मन, वाणी और शरीर से किये गये जन्मजन्मान्तर में संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध के रूप में कर्म की स्थिति मानी गयी है।इस दृष्टि से कर्म केवल विविध रूपों में पिण्ड की गतिशील अवस्था ही नहीं अपितु आचरण में प्रयुक्त किये जाने वाले नैतिक मापदण्डों के अनुसार किये जाने वाले व्यवहार हैं। अपने निजी हितों का त्याग करके सर्वजनहिताय जिन आचरणों को किया जाता है वे आचरण कर्म कहलाते हैं। कर्म की विवेचना करते हुए चरक कहते हैं—**प्रयत्नादिकर्म चेष्टितमुच्यते**[23] अर्थात् प्रयत्न, चेष्टा आदि को कर्म कहते हैं इसके अतिरिक्त भी कर्म का एक लक्षण प्राप्त होता है—**कर्तव्यस्य क्रिया कर्म कर्म नान्यदपेक्षते।**[24] अर्थात् शास्त्रनिर्देशानुसार करने योग्य क्रिया कर्म कहलाती है और कर्म निरपेक्ष होता है। चरक के उक्त वचन में कर्म का दार्शनिक अर्थ लक्षित हो रहा है। करणीयता यह कर्म का लक्षण है। कर्म जीवन का आधार है। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने निःस्पृहारहित होकर किये गये कर्म को वस्तुतः कर्म माना है।[25]

मोक्षप्रदायक तृतीयसाधन भक्ति है। भक्त की दशा भी ज्ञानी और कर्मयोगी के समान ही होती है परन्तु भक्त गुणातीत होता है इसलिये नारद सूत्रित करते हैं कि—**तस्या ज्ञानमेव साधनमित्येके**[26] अर्थात किन्हीं आचार्यों के मत में ज्ञान तो भक्ति का साधन है। यह मत भी सूचित करता है कि भक्ति ज्ञान से अतिशय है। ज्ञान और भक्ति अत्यन्त संकीर्ण हैं बहुधा ज्ञान और भक्ति एक ही प्रतीत होते हैं शाण्डिल्य ने इसका स्पष्ट निषेध करते हुए कहा है—**ज्ञानमिति चेन्न द्विषतोऽपि ज्ञानस्य तदसंस्थितेः**[27] अर्थात् भक्ति ज्ञान नहीं है क्योंकि ज्ञान की स्थिति तो द्वेष रखने वाले शत्रु में भी होती है । भक्ति श्रद्धा है तथा ज्ञानी में श्रद्धा हो यह आवश्यक नहीं है। ज्ञानी गुणाधीन होता है परन्तु भक्त गुणातीत होता है। गुणातीत का लक्षण भगवान् इस प्रकार देते हैं—

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥[28]

ज्ञानी और भक्त की समानता पूरे श्लोक में वर्णित है परन्तु श्लोक का अन्तिम अंश भक्त को ज्ञानी की तुलना में श्रेष्ठ सिद्ध करता है। यह भी ध्यातव्य है कि भक्त के जो लक्षण हैं वह ज्ञानी में ज्ञान की पराकाष्ठा होने पर उत्पन्न होते हैं क्योंकि भक्ति तो ज्ञान का क्षय करने वाली है—**तयोपक्षयाच्च**[29] अर्थात भक्ति होने पर ज्ञान का क्षय हो जाता है।

भक्ति कर्म भी नहीं है—**न क्रिया कृत्यनपेक्षणाज्ज्ञानवत्**[30] अर्थात् भक्तिक्रियारूप भी नहीं है क्योंकि भक्ति ज्ञान की भांति कर्तृत्व की अपेक्षा नहीं करती । इसी आशय से नारद ने भक्ति को ज्ञान और कर्म से श्रेष्ठ माना है—**सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा**[31] अर्थात् भक्ति कर्मयोग और ज्ञानयोग से बढकर है। यही कारण है कि श्रीकृष्ण अर्जुन को निस्त्रैगुण्य बनने का परामर्श देते है क्योंकि त्रैगुण्यता वेद का लक्षण है तथा वेद में पारंगतता ज्ञानी का लक्षण है परन्तु भक्त तो वेद के इन प्रपंचों से सर्वथा मुक्त रहता है। श्रीकृष्ण ने भी भक्त को अतिशय माना है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन।।
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥[32]

इस पद्य में योगी वही है जो भगवान् के प्रति अनन्य श्रद्धावान् है क्योंकि *श्रीमद्भगवद्गीता* के द्वादश अध्याय के श्लोक संख्या 13 से 19[33] में भगवान् स्वयं अपने मुखकमल से भक्त के प्रति स्वकीय प्रियता को व्यक्त करते हैं। ज्ञान से भक्ति की श्रेष्ठता का इससे बडा और क्या प्रमाण हो सकता है। श्रीमद्भागवत् में भी भक्ति सर्वश्रेष्ठ माना गया है—

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
कुतः पुनः शश्वद्भद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्॥[34]

इस प्रकार इन मतों के अनुसार सूत्रकार शाण्डिल्य के मतानुसार भक्ति न तो कर्म है न ज्ञान अपितु वह ज्ञान और कर्म दोनों से ही श्रेष्ठ है क्योंकि भक्ति अनन्त फल वाली है। नारद भी भक्ति को फलरूपा होने के कारण ज्ञान और कर्म से अतिशय मानते हैं और इस मत को उपपत्ति पूर्वक स्थापित करते हैं तथा शाण्डिल्य भी सिद्धान्ततः घोषित करते है—**तदेव कर्मिज्ञानि योगिभ्य आधिक्यशब्दात्।**[35]

2. भक्ति अविवादित होती है

ज्ञान की संस्थापना में विविध वाद-प्रतिवाद होते हैं। ज्ञानार्जन में जाति, विद्या, कुल आदि भूमियों की अपेक्षा रहती है। दर्शन का उद्भव विविध वादों और प्रतिवादों की क्षेत्रभूमि में अंकुरित होता है। इसके अतिरिक्त द्वैत, अद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि दर्शनान्तर भेद प्राप्त होते हैं । खण्डन-मण्डन से दर्शन की प्रक्रिया पुष्ट होती है परन्तु ये सभी ज्ञान की प्रक्रिया के अंश हैं। कर्मकाण्ड की प्रचलित अनेक विधियाँ भी नाना विवादों को उत्पन्न करती है। भक्ति के उदय होने का प्रमुख कारण ईश्वर की कृपा मानी गयी है।[36] भक्ति परमप्रेमविषयक होती है अतः भक्ति में प्रक्रियाभेद नहीं होता इसके अतिरिक्त भक्ति किसी योग्यता की भी अपेक्षा नहीं करती है—**नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादि भेदः।**[37] अर्थात् भक्तों में जाति, विद्या, रूप, कुल धन और क्रिया का भेद नहीं है। योगेश्वर श्रीकृष्ण स्वयं अपने मुखारविन्द से घोषित करते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥[38]

इसका आशय यह है कि भगवान् को भजने वाला निन्दित कुल, अवस्था में ही क्यों न हो वह भक्ति का अधिकारी माना जायेगा। नारद तो ज्ञानियों के वादविवाद को भी भक्ति में बाधक मानते हैं। यद्यपि शाण्डिल्यभक्तिसूत्र में शुद्धा और गौणी भक्ति के ये दो भेद कहे गये हैं परन्तु वह तो भक्ति का अवस्थाभेद है।

भक्त तो अनन्यभाव से भगवान् को भजता है इसलिये भक्तों में कोई विवाद नहीं होता। अतः भक्ति अविवादित कही गयी है जो कोई भी अनन्य श्रद्धा से भगवान् को भजता है वह भगवान् को प्राप्त होता है—

दैतेया यक्षरक्षांसि स्त्रियः शूद्रा व्रजौकसः।
खगाः मृगाः पापजीवाः सन्ति ह्यच्युततां गताः।[39]

3. भक्ति अङ्गी है

नारद और शाण्डिल्य दोनों ही मानते है कि भक्ति अङ्गी है तथा अन्य साधन भक्ति के अङ्ग हैं—**सा मुख्येतरापेक्षित्वात्**[40] अर्थात् भक्ति मुख्य है क्योंकि ज्ञान कर्म को भक्ति की अपेक्षा रहती है भक्ति को अंगी मानने में शाण्डिल्य अनेक सूत्र प्रस्तुत किये हैं—**प्रकरणाच्च**[41] शाण्डिल्य के अनुसार प्रकरण से भी भक्ति की मुख्यता सिद्ध होती है। यह प्रकरण इस प्रकार है—**आत्मैवेदं सर्वमिति स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन् नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथून आत्मानन्दः स स्वराड् भवति।**[42] अर्थात् यह सभी कुछ परमात्मा है, जो ऐसा देखता है, मानता है और ऐसा समझता है वह परमात्मा में परम अनुराग, परमात्मा में ही क्रीडा, उन्हीं के संयोग में सुख तथा उन्हीं में आनन्द को अनुभव करता हुआ परमात्मा के स्वरूप वाला हो जाता है। इस प्रकार इस उद्धरण में ज्ञान और कर्म के जो श्रवण,मनन आदि स्वरूप कहे गये हैं वे वस्तुतः भक्ति को प्राप्त करने के लिये है, ऐसा ज्ञात होता है। इस विषय में पौराणिक उद्धरण भी प्रस्तुत किया गया है-

मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते।
दिष्ट्या यदासीन्मत्स्नेहो भवतीनां मदापनः॥[43]

केवल भक्ति ही मुक्त करने वाली होती है। भक्ति से जन्मबन्धन कटते हैं—**कुर्वन्ति सर्वात्मकमात्मभावं न यत्र भूयः परिवर्त उग्रः।**[44] केवल ज्ञान से मोक्ष नहीं होता क्योंकि ज्ञान भक्ति रूप में परिणत होता है तत्पश्चात् वह मुक्ति का साधन बनता है। भक्ति ज्ञान भक्ति का अङ्ग क्यूं है इस सन्दर्भ में द्वितीय युक्ति देते है—**दृष्टत्वाच्च**[45] अर्थात् लोक में ऐसा देखा गया है कि प्रथमदृष्टि किसी पदार्थ का ज्ञान होता है तत्पश्चात् उसमें प्रीति उत्पन्न होती है। प्रीति का फल ज्ञान नहीं है अपितु ज्ञान का फल प्रीति है यह लोक से ही सिद्ध है । इसलिये व्रत, तीर्थ, योग, यज्ञ, ज्ञानचर्चा इत्यादियों से भक्ति ही पममुक्तिदायिका कही गयी है—

अलं व्रतैरलं तीर्थैरलं योगैरलं मखैः।
अलं ज्ञानकथालापैर्भक्तिरेकैव मुक्तिदा॥[46]

अतः स्पष्ट होता है कि ज्ञान आदि भगवद् प्राप्ति की अन्य क्रियाएँ भक्ति का अङ्ग है।

4. अतिबौद्धिकता का भञ्जन भक्ति है

भक्ति ज्ञान से अतिशय होती है क्योंकि भक्ति में असहायता या शरणागति के बोध का भाव है।[47] ज्ञानी में शरणागति का अभाव होता है वह तो कामना के वशीभूत होकर भगवान् की शरण लेता है— **तद्वतः**

प्रपत्तिशब्दाच्च न ज्ञानमितरप्रपत्तिवत्[48] ज्ञान के द्वारा भी भक्ति को ही प्राप्त किया जाता है। जहाँ ज्ञानजन्य अहङ्कार भंजित होता है वहाँ भक्ति का उदय होता है। ज्ञान में ज्ञातृत्व का अहङ्कार स्वाभाविक है इसके विपरीत भक्ति कर्तृत्व के अहङ्कार से शून्य होती है क्योंकि भक्ति करने का विषय नहीं है, होने का विषय है जो भगवत्कृपा से सम्भव है।[49] ज्ञान का अहङ्कार भक्ति से भंजित होता है इसी कारण भञ्ज धातु से भी भक्ति पद की निष्पत्ति की जाती है। भक्ति से ज्ञान की भञ्जना का श्रेष्ठ निदर्शन उद्धव और गोपियो का सम्वाद है जहाँ पर अतिबौद्धिक उद्धव के ज्ञान का भञ्जन भक्त गोपियाँ करती है परिणामस्वरूप उद्धव जी के मुख से अनायास ही स्फुटित होता है—

क्वेमा स्त्रियो वनचरीर्व्यभिचारदृष्टाः कृष्णे क्व चैष परमात्मनि रूढभावः।
नन्वीश्वरोऽनुभजतोऽविदुषोऽपि साक्षाच्छ्रेयस्तनोत्यगदराज इवोपयुक्तः॥[50]

5. भक्ति फलरूपा है

पूर्व में उल्लिखित है कि भक्ति ज्ञान और कर्म से अतिशय है । ज्ञान से भक्ति की अतिशयता का कारण भक्ति का फलरूप होना है—**फलरूपत्वात्**[51] अपने मत की पुष्टि में नारद प्रमाणित करते हैं—**स्वयं फलरूपतेति ब्रह्मकुमाराः**[52] अर्थात् ब्रह्मकुमारों के अनुसार भक्ति फलरूपा है क्योंकि भक्ति के प्राप्त हो जाने पर और कोई कामना शेष नहीं रहती, यही भक्ति का निरोधस्वरूप है। भक्ति को प्राप्त करके मनुष्य सिद्ध हो जाता है, अमृत हो जाता है, तृप्त हो जाता है।[53] जिस भक्ति को प्राप्त करके भक्त न तो कुछ चाहता है, न किसी प्रकार का शोक करता है, न किसी में आसक्त होता है और न ही विषयभोग में प्रवृत्त होता है[54] जिससे मनुष्य पूर्णता को प्राप्त करता है ऐसी पूर्णता देने वाली भक्ति वस्तुतः फलरूपा है इसलिये निष्कर्ष रूप में नारद कहते है—**तस्मात्सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः**।[55]

6. भक्ति में लोकातिक्रम होता है

भक्ति मानव अस्तित्व के सभी आयामों में व्याप्त होती है केवल आध्यात्म में ही नहीं सिमटती। गोपियाँ, प्रह्लाद, नारद आदि भक्तों के चरित्र लोकानुगामी नहीं है अपितु वे लोकातिक्रम करते है। अर्थात् इन भक्तों ने लोक में बंधी-बंधाई परम्पराओं का त्याग कर अपना मार्ग स्वयं विकसित किया। ऐसा नहीं है कि भक्त शास्त्रीय परम्पराओं का त्याग या उपहास करता है अपितु जिन परम्पराओं से उसकी भक्ति बाधित होती है किसी भी प्रकार के प्रलोभन में न आते हुए भक्त उस परम्परा को खण्डित कर नवीन मार्ग का सृजन करता है। आशय यह है कि लोक के कोई भी नियम भक्ति को बान्धते नहीं है अपितु भक्ति अपने मार्ग का वरण स्वयमेव करती है। जन्ममरणादि बन्धनों को भी भक्त उत्क्रान्त कर जाता है—**जन्मकर्मविदश्चाजन्म-शब्दात्**।[56] इसी प्रकार नाना अनुष्ठानों के बन्धन भी भक्त के लिये शिथिल पड जाते है—**तत्स्थानत्वादनन्यधर्मः खले बालीवत्**।[57]

7. भक्ति आत्मावलोकन है

भक्त भगवन्मय होता है भगवान् से व्यतिरिक्त उसके लिये कुछ भी नहीं है। भगवत्कृपा से भक्त की ऐसी अनुरक्ति अलौकिक दर्शन को उत्पन्न करती है जिससे भक्त को आत्मस्वरूप का ज्ञान होता है। आत्मस्वरूप वस्तुतः निरुपाधिक है। राग, द्वेष, मान, मद, मोह, मत्सर आदि भाव सोपाधिक होते है जो भक्त के प्रतिमुख भाव है। जैसे-जैसे भक्ति दृढ होती है भक्त की आत्मावलोकिता बढती जाती है। जैसे-जैसे आत्मावलोकन बढता है भक्त सरल होता जाता है। भक्त की यही अवस्था आत्मरामत्व है—**यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति, स्तब्धो भवति, आत्मारामो भवति।**[58] भक्त में आत्मरति क्यों होती है इसे स्पष्ट करते है कि भक्ति कामनायुक्त नहीं होती भक्त ईश्वर में अनन्यता रखता है तथा भगवान् को छोड कर अन्य विषयों में उदासीन होता है—**तस्मिन्नन्यता तद्विरोधिषूदासीनता च।**[59] किञ्च भगवान् और भक्त में अभेद स्वीकृत किया गया है—**तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्**[60] जब विकृतिरूप मनुष्य भक्ति के प्रभाव से सर्वत्र प्रकृतिरूप भगवान् को ही अनुभव करता है, वस्तुतः वह आत्मावलोकन ही है।

8. भक्ति में सर्वाधिकारत्व है

ज्ञानमार्ग जिगमिषु की अधिकारिता शास्त्रों में निर्दिष्ट है। उपनयन, वेदारम्भ आदि संस्कार ज्ञानमार्गियों के लिये निर्दिष्ट हैं। इसी प्रकार कर्ममार्गियों में विविध यागानुष्ठाताओं के अधिकारित्व और अनधिकारत्व की चर्चा भी शास्त्रों में प्राप्त होती है परन्तु भक्त के लिये इस प्रकार के अधिकारत्व की चर्चा कहीं भी प्राप्त नहीं होती है। भक्ति किसी भी अवस्था में उदभूत हो सकती है। भक्त बालक भी हो सकता है जैसे ध्रुव या प्रह्लाद। भक्त समाज में अस्पृश्य भी हो सकता है जैसे शबरी। भक्त दैत्य भी हो सकता है जैसे दैत्य राज बलि। भक्त पशु भी हो सकता है यथा वानर हनुमान। कहने का तात्पर्य यह है कि शिक्षा कुल, जाति, धर्म, योनि, अवस्था आदि कोई भी प्रतिबन्ध भक्तिमार्ग में अवरोधक नहीं है—**आनिन्द्ययोन्यधिक्रियते पारम्पर्यात् सामान्यवत्**[61] अर्थात् भक्ति में ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल पर्यन्त मनुष्यों का समानाधिकार है जिस प्रकार यमनियमादि में सभी समान रूप से अधिकारी होते है। भक्ति तो सभी ओर से बहने वाली अजस्र धारा है जिसका स्रोत कब, कहाँ, कैसे प्रस्फुटित हो जाये कहा नहीं जा सकता इसलिये कहा गया है—

देवोऽसुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्व एव च।
भजन् मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान् स्याद् यथा वयम्॥[62]

9. भक्ति भाव है

तर्क-वितर्क अथवा यागादि अनुष्ठान क्रमशः ज्ञान और कर्म का स्वरूप ज्ञात होता है परन्तु भक्ति सभी उपक्रमो से इतर होती है। भक्ति तर्कातीत होती है। शुद्धाशुद्ध, जप-तप यागादिकर्म भक्ति के लिये अपेक्षित नहीं है। भक्ति के लिये मूलतत्त्व ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण और श्रद्धा है। भक्ति केवल परमप्रेमस्वरूपा है वह

प्रेम तो केवल भाव होता है। प्रेम का स्वरूप स्पष्ट करते हुए नारद कहते हैं—**गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्**[63] अर्थात् प्रेम गुणरहित, कामनारहित, प्रतिक्षण बढने वाला, कभी नष्ट न होने वाला सूक्ष्मतम और अनुभवगम्य है। प्रेमभाव सभी कल्पनाओं और संकल्पनाओं से परे होता है। किञ्च प्रेम तो शब्दातीत होता है। प्रेम में शब्द मौन हो जाते है और क्रियाएँ रुक जाती है । भक्ति की अवस्था में ज्ञान और कर्म पृथक् से प्रतीत नहीं होते सभी भक्तिमय हो जाता है।

10. भक्ति आत्मा का विषय है

ज्ञान की कामना दुःखनाश के लिये की जाती है। संसार क्या है, संसार से परे क्या है, मूलतत्त्व क्या है इत्यादि प्रश्नों के समाधान की चर्चा ज्ञान के रूप में कही जाती है। यद्यपि ज्ञान का स्तर अत्यन्त उच्च है तथापि यह उस स्तर तक नहीं जाता जहाँ तक भक्ति जाती है। भक्ति आत्मा का रस है, वह आत्मा का विषय है क्योंकि परमात्मा आनन्दघन है और उसी के स्वरूप का साक्षात्कार भक्ति करवाती है। भक्ति बुद्धि का विषय नहीं है क्योंकि बुद्धिमान् भक्ति नहीं कर सकता। इस सन्दर्भ में नारद युक्ति प्रदान करते हैं—**ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेषित्वाच्च दैन्यप्रियत्वाच्च**[64] बुद्धिमान् में कभी दीनता नहीं होती तथा किञ्चिद अहङ्कार भी रहता है परन्तु ईश्वर का तो अभिमान से द्वेष तथा दीनता से प्रियभाव है। इसी प्रकार ज्ञान और कर्म मोक्ष को प्राप्त करने के साधन हैं परन्तु भक्ति साधन के साथ साध्य भी है क्योंकि भक्ति, भक्ति प्राप्त करने के लिये की जाती है और भक्ति केवल भक्तिलभ्य है अतःभक्ति साधन होने के साथ-साथ साध्य भी है। भक्ति की यही साध्यस्वरूपता उसे आत्मविषयकता प्रदान करती है।

11. भक्ति सभी को समान करती है

भक्ति की निरुक्ति भञ्ज भेदने धातु से उल्लिखित है क्योंकि भक्ति विवाद या भेद का भञ्जन करती है। यह पूर्व में प्रतिपादित है कि ज्ञान अथवा कर्ममार्ग में अहङ्कार के समावेश की संभावना रहती है किञ्च स्वमत के श्रेष्ठता की भी भावना रहती है। ज्ञान बौद्धिक है अतः 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' लोकोक्ति के आधार पर ज्ञान वैषम्यभूमि है। कर्ममार्ग की भी नानावीथियाँ कहीं गयी है। भक्ति में किसी भी प्रकार का वैषम्य नहीं होता किञ्च भक्ति में साधन और साध्य में भी भेद नहीं होता। भगवान् है कि भक्त यह भी दुर्बोध है तो अन्य के तो अस्तित्व का प्रश्न ही नहीं उठता। भगवान् का प्रिय कैसे हो इस चिन्तन से व्यतिरिक्त भक्त का चिन्तन ही नहीं होता। रोना, हसना, गाना, नाचना, कीर्तन, भोजन, श्रवण द्वेष, उपालम्भ सभी प्रकार के अनुकूल और प्रतिकूल भावों का केन्द्र केवल आराध्य होता है इसी भाव के कारण रावणादि दुष्टात्माएँ परमपद को प्राप्त करती है । इसका कारण यह है कि भक्ति में भेद नहीं होता।

12. शरीर और आत्मा का समन्वय भक्ति

शरीर का प्रयोजन आत्मा को मोक्ष प्रदान करवाने में सहायता करवाना है । साधारण जन स्वयं को लौकिक धन सम्पत्ति, स्त्री, पुरुष, प्रतिष्ठा आदि की प्राप्ति में संलग्न रखते है। भक्त अपने इन कार्यों को भी

भगवान् में समर्पित कर देता है। भक्त का स्वशरीर से भी कोई प्रयोजन नहीं रह जाता । भक्ति भगवान् की सेवा करने और प्रेम करने का अपर नाम है। किस प्रकार अपने दैनन्दिन कार्य भी निःस्पृह होकर किये जाये इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण भक्ति है।

13. भक्ति अनन्याधिकार है

भक्त भगवान् को किस रूप में देखता है भक्त के भाव भक्ति की भावना का अभिधान करते है। बाललीला का दर्शन भक्त को माधुरी भक्ति का आस्वादन करवाता है और रतिभाव कान्ताभक्ति से ओतप्रोत करता है। कान्ताभक्ति में भक्त ईश्वर में अनन्यभाव से आसक्त रहता है कोई और भगवान् से प्रेम करे यह विचारणा ही भक्त के लिये असहनीय होती है। यदि भगवान् किसी अन्य की ओर अभिमुख होते हैं तो यह भक्त के लिये ईर्ष्या का कारण होता है। मैं केवल भगवान् का और भगवान् केवल मेरे यह भाव उसके हृदय से कभी च्युत नहीं होता और वह किसी से भी भगवान् का विभाजन स्वीकार नहीं करता। भक्त के लिये भगवान् को छोडकर विश्व के अन्य पदार्थ महत्त्वहीन हैं।

14. भक्ति मानव को पूर्ण करती है

ज्ञानार्जन दुःखों से निवारण के लिये किया जाता है परन्तु भक्ति दुःखों से मुक्त होने के लिये नहीं अपितु परमसुखरूप भगवत्प्राप्ति के लिये की जाती है। भक्ति में भक्त भगवान् से सायुज्य की कामना करता है। वस्तुतः मानव अपूर्ण है भक्ति मानव को भगवन्मय करके पूर्ण करती है—

तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो यस्मिन् प्रतिश्लोकमबद्धावत्यपि।
नामान्यनन्तस्य यशोऽकितानि यच्छृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति॥[65]

15. अन्तःकरण की भगवदाकारत्व ही "भक्ति है

अर्थात् अन्तःकरण का भगवन्मय होना भक्ति है। दुःख का मूल कारण परमात्मा से सायुज्य की कामना न होना अथवा स्वयं को भगवान् से पृथक् मानना है। इसी मन्तव्य को शास्त्रों में अविद्या मानते हुए भिन्न-भिन्न रूपों में स्पष्ट किया गया है। सर्वकारणरूप परमात्मा से विमुखता और सांसारिक भोगो में अनुरक्ति से मानव स्वयं को अपूर्ण अनुभव करता है। क्योंकि साधन ससीम होते है एवं सुख असीम होता है। ससीम से असीम की पूर्णता प्राप्त नहीं होती। असीम की पूर्णता असीम से ही लभ्य है। भगवान् से सम्मुखता और सांसारिक भोगों में विरक्ति भक्ति है। अर्थात् भक्ति असीम से ससीम की ओर जाती है परमात्मा की ओर अग्रसरी करने वाली होने के कारण भक्ति में मानव स्वयं को पूर्ण अनुभव करता है।

16. भक्ति सुलभ है

पूर्व में विवेचना की जा चुकी है कि ज्ञान एवं कर्म साधन एवं अधिकारत्व की अपेक्षा करते हैं परन्तु भक्ति में साधन एवं अधिकारिता का कोई निर्देश नहीं है। भक्तियोग की यह विशेषता भक्ति को अन्य साधनों से सुलभता प्रदान करती है—**अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ**[66] भगवान् श्रीकृष्ण भी *गीता* में कहते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥[67]

17. भक्ति स्वयं प्रमाणस्वरूप है

ज्ञान प्रमाणपरक होता है किन्तु भक्ति में कोई प्रमाण आवश्यक नहीं क्योंकि भक्ति स्वयमेव प्रमाण है।

18. भक्ति सात्त्विक होती है

सांख्यदर्शन के अनुसार प्रकृति त्रिगुणात्मक है[68] एवं प्रत्येक कार्य में उसका कारण पूर्व से ही विद्यमान रहता है।[69] प्रकृति के त्रिगुणात्मक होने से सृष्टि का प्रत्येक पदार्थ त्रिगुणाबद्ध है। प्रत्येक में इन भावों का वैषम्य होता है अतः नाना सृष्टियों की परिणति होती है। सभी मनुष्य भक्त नहीं होते केवल वे ही मनुष्य भक्त होते है जो सात्त्विकभावसम्पन्न होते हैं अथवा जिनके तामसिक या राजसिकभाव नष्ट हो गये हो—**भक्तिः प्रवृत्तात्मरजस्तमोपहा**[70] जब राजसी और तामसीभाव नष्ट हो जाते है तब स्वयमेव सात्त्विकभाव प्रबल हो जाते हैं तथा सात्त्विकभावोत्पन्न भक्ति भी सात्त्विक होती है—**सत्त्वं विशुद्धिक्षेमाय कल्पन्ते येऽनुतानिह**।[71]

19. भक्ति सार्वकालिक है

श्रीमद्भागवत के प्रसंगानुसार चतुर्युगसमुच्चय में प्रत्येक काल में भगवत्प्राप्ति के साधनों में एक की प्रधानता रही है। परन्तु यह भी ध्यातव्य है कि ज्ञान और वैराग्य भक्ति की भूमि में ही विकसित होते हैं—**भक्तिज्ञानविरागाप्तो विवेको वर्धते महान्**[72] अतः भक्ति की प्रधानता तो सर्वकालिक है इसके अतिरिक्त कलिकाल में भक्ति ही प्रधान है—

सत्यादित्रियुगे बोधवैराग्यो मुक्तिसाधकौ।
कलौ तु केवला भक्तिर्ब्रह्मसायुज्यकारिणी॥[73]

यही नहीं कलिकाल में भक्ति के वैशिष्ट्य को बार-बार घोषित किया गया है—**कलौ भक्तिः, कलौ भक्तिः।**[74]

20. भगवान् केवल भक्तिवश्य है

यह भक्ति का ही वैशिष्ट्य है कि भगवान् भक्ति में स्वयमेव आबद्ध हो जाते है और इसमें भगवान् के वचन ही प्रमाण हैं—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्यं एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्यं अहमेवंविधोऽर्जुन।[75]

इसी प्रकार का प्रमाणीकरण नारद के वचनों से भी ज्ञात होता है—

न तपोभिर्न वेदैश्च न ज्ञानेनापि कर्मणा।
हरिर्हि साध्यते भक्त्या प्रमाणं तत्र गोपिकाः॥[76]

जहाँ भक्ति होती है वहाँ भगवान् साक्षात् उपस्थित होते हैं—**भक्त्या कृष्णः पुरः स्थितः।**[77]

21. भक्ति परमशान्तिदायक है

भक्तिवश्य भगवान् भक्त को परम मुक्ति प्रदान करते है। भक्त की सभी हृदयग्रन्थियाँ खुल जाती है उसके सारे संशय नष्ट हो जाते है, उसके सारे कर्मबन्धन क्षीण हो जाते हैं—

एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसंगस्य जायते।
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरो॥
अतो वै कवयो नित्यं भक्तिं परमया मुदा।
वासुदेवे भगवति कुर्वन्त्यात्मप्रसादनीम्॥78

इससे अपूर्व आनन्द की स्थिति क्या होगी इसीलिये कवियों ने नित्यप्रति श्रीकृष्ण में रति करने करने का कथन कर रहे हैं।

इस प्रकार उक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि भक्ति अलौकिक रस है। परम ऋषियों ने, ज्ञानियों ने, सज्जनों ने भक्ति का ही समर्थन किया है। अन्य साधन भगवान् तक ले जाते हैं परन्तु भक्ति से तो भगवान् स्वयं आकृष्ट होकर दौडे चले आते है अतः नारद मुक्त कण्ठ से प्रेमपूर्वक उद्घोष करते हैं—**त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी भक्तिरेव गरीयसी।**[79]

सन्दर्भ

1. *वेदान्तसार सूत्र* 51,प्रकाशन अद्वैत आश्रम मायावती, अल्मोडा, 1931
2. *ऋग्वेद*-1/1/1
3. *तैतिरीयोपनिषद्*- 3/3/6/1
4. *बृहदारण्यकोपनिषद्*- 4/3/33
5. *पाणिनि अष्टाध्यायी*, 3/3/94
6. *वाचस्पत्यम्*, चौखम्बा संस्कृतसंस्थान, वाराणसी
7. *वाचस्पत्यम* चौखम्बा संस्कृतसंस्थान, वाराणसी
8. *नारदभक्तिसूत्र*-2

9. *नारदभक्तिसूत्र*-3
10. *नारदभक्तिसूत्र*-7
11. *नारदभक्तिसूत्र*-11
12. सा परानुरक्तिरीश्वरे- *शाण्डिल्यभक्तिसूत्र*,2
13. *शाण्डिल्यभक्तिसूत्र*,3
14. *श्रीमद्भागवत*- 1/3/27
15. पूजादिष्नुराग इति पाराशर्यः कथादिष्विति गर्गः
    आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः। *नारदभक्तिसूत्र*-16,17,18
16. *शाण्डिल्यभक्तिसूत्र*,44
17. *श्रीमद्भागवत*- 7/7/55
18. *अमरकोश*-1/5/6
19. *श्रीमद्भगवद्गीता*-13/11
20. *श्रीमद्भगवद्गीता* 2/55
21. धर्मविशेषप्रसूताद्द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां.....। *प्रशस्तपादभाष्य*-1/1/4
    वैशेषिकदर्शनम्, प्रशस्तपादभाष्यम्, चौखम्बा संस्कृत संस्थान विस 2068
22. उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि- *प्रशस्तपादभाष्य*-1/1/7
23. *चरकसंहिता*-1/1/49
24. *चरकसंहिता*- 1/1/52
25. कर्मण्येवाधिकरस्ते मा फलेषु कदाचन- *श्रीमद्भगवद्गीता* 2/47
26. *नारदभक्तिसूत्र*-28
27. *शाण्डिल्यभक्तिसूत्र*,4
28. *श्रीमद्भगवद्गीता*-15/25
29. *शाण्डिल्यभक्तिसूत्र*,5
30. *शाण्डिल्यभक्तिसूत्र*,7
31. *नारदभक्तिसूत्र*-25
32. *श्रीमद्भगवद्गीता*-6/46-47
33. अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुणः एव च।
    निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी॥
    सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
    मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकोन्नोद्विजे च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैमुक्तो यः स च मे प्रियः॥

अनपेक्ष शुचिर्दक्षः उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥ — *श्रीमद्भगवद्गीता*-12/13-17

34. *श्रीमद्भागवत*- 1/5/12
35. *शाण्डित्यभक्तिसूत्र*, 22
36. *नारदभक्तिसूत्र*- 38
37. *नारदभक्तिसूत्र*- 71
38. *श्रीमद्भगवद्गीता*-9/32
39. *श्रीमद्भागवत*- 7/7/54
40. *शाण्डित्यभक्तिसूत्र*-10
41. *शाण्डित्यभक्तिसूत्र*, 11
42. *छान्दोग्योपनिषद्*-7/25/2
43. *श्रीमद्भागवत*- 10/82/45
44. *श्रीमद्भागवत*- 1/3/39
45. *श्रीमद्भागवत* 10/82/45
46. *श्रीमद्भागवत*- 1/2/21
47. ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेषित्वात् दैन्यप्रियत्वाच्च। *नारदभक्तिसूत्र* 27
48. *शाण्डित्यभक्तिसूत्र*, 9
49. तत्कृपयैव, *नारदभक्तिसूत्र* 40
50. *श्रीमद्भागवत*- 1/2/21
51. *नारदभक्तिसूत्र*- 26
52. *नारदभक्तिसूत्र*- 30
53. *नारदभक्तिसूत्र*- 5
54. *नारदभक्तिसूत्र*- 6
55. *नारदभक्तिसूत्र*- 33
56. *नारदभक्तिसूत्र*- 47
57. *नारदभक्तिसूत्र*- 77

58. *नारदभक्तिसूत्र*- 6
59. *नारदभक्तिसूत्र*-9
60. *नारदभक्तिसूत्र*-41
61. *शाण्डिल्यभक्तिसूत्र*-78
62. *श्रीमद्भागवत*- 7/7/50
63. *नारदभक्तिसूत्र*- 54
64. *नारदभक्तिसूत्र*- 27
65. *श्रीमद्भागवत*- 1/5/11
66. *नारदभक्तिसूत्र*- 58
67. *श्रीमद्भगवद्गीता*-8/14
68. त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यचेतनं प्रसवधर्मि-*सांख्यकारिका* 11, चौखम्बा विद्याभवन,वाराणसी,2009
69. असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणाद् कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥ — *सांख्यकारिका* 9
70. *श्रीमद्भागवत*- 1/5/28
71. *श्रीमद्भागवत*- 1/2/25
72. *श्रीमद्भागवत*- 1/5
73. *श्रीमद्भागवत*- 1/2/4
74. *श्रीमद्भागवत*- 1/2/19
75. *श्रीमद्भगवद्गीता*-11/44-45
76. *श्रीमद्भागवत*- 1/2/18
77. *श्रीमद्भागवत*- 1/2/19
78. *श्रीमद्भागवत*- 1/2/20-22
79. *नारदभक्तिसूत्र*- 81

सहायक आचार्या, मौलिकसिद्धान्त विभाग
डॉ. एस आर आर आयुर्वेद विश्वविद्यालय
जोधपुर, राजस्थान मो. 979941551

Introduction to *Nityāśoḍaṣikārṇava*

Dr. Mythili Seetharaman

Different levels of Competencies

The idea that the whole world must follow one path is regarded by Hindus as absurd, being contrary to nature and its laws. A man must follow that path for which he is fit, (i.e.) for which he is ***Adhikārī***. ***Adhikārī*** or competency literally means "Spreading over", that is, taking possession of. What is to be known (***jñātavya),*** done (***Kartavya***), acquired (***Prāptavya***) are determined not once and generally for all, but in each case by the fitness and the capacity of the individual. Each man can know, do and obtain not everything, not indeed one common thing, but only that, of which he is capable (***Adhikārī***)What the *Jiva* thinks, does or obtains, is his competency or ***Adhikāra*** , a profound and practical doctrine on which all Indian teaching and ***sādhana*** is based. As men are different and therefore the ***Adhikāra*** is different, so there are different forms of teaching and practice for each ***Adhikāra***. Such teachings may be ***śrauta*** or ***aśrauta***. Of the two, it is the head of all *Vidyas* the Lord ***Iśāna*** and that these differing forms are meant for differing competencies though, all have one and the same object and aim. This has been well and concisely worked out by Bhaskar Ray (BR) in his *Bhashya* on ***Nityāśoḍaṣikārṇava*** (NS) , which is, according to him, a portion of the ***Vāmakeśvara tantra.***

So everyone can rise to the higher level and one should not criticize the lower level people and their ***dharma.***

In this world, all long for happiness which is the sole aim of man. This happiness is of two kinds, namely that which is produced and transient

(*Kṛtrima*), and that which is unproduced and enduring (*Akṛtrima*). They are called as Desire *(Kāma)* and Liberation (*Mokṣa*) respectively. *Dharma* procures happiness of both kinds and then *Artha* helps the attainment of *Dharma*. There are thus, four ***puruśārthas*** which though, as between themselves, different are yet intimately connected one with the other.

The ***Kalpasutrā*** says that self knowledge is the aim and end of man. This can be attained by ***jñāna*** and *Vijñāna*. Due to different *Karma* ***saṁskāra***, they have different kinds of mind. The very merciful ***Bhagavān Parameśvara*** desirous of aiding men, whose mind and disposition differ according to the results produced by their different acts, promulgated different kinds of *Vidya* which, though appearing to be different as between themselves yet have, their common aim, the highest end of all human life's, that is, Liberation. ***Īśāna***

Śruti also says "Of all ***vidyās***, Lord is ***Īśvara*** ,"

"I who desire liberation, seek refuge in that ***Deva*** who creates *Brahma* who again reveals the *Vedas* and all other learning**.**

The *Vedas*, *Puranas*, 18 kinds of ***smṛti*** are authored by ***śiva*** himself. The ***Upaniṣaḍs*** and the ***Uttaramīmāmsā*** are helpful for this purpose and therefore, should be studied. Understanding the meaning of ***śaśtra***, the word of *guru* and certainty of the unity of the individual self, and *Atman* are powerful tools to dispel inward darkness, but not the mere knowledge of the world. It has been stated that "neither indifferent nor attached, for such one, *Bhakti yoga* grants achievement.

Therefore when the ***śābda bhūmikā*** is attained, one should not waste further time at this stage and there are texts which prohibit this. Between the second and third of the seven stages, there is a great stage *Bhakti*. *Bhakti****mīmāmsā*** **(***närada* ***sutrā, santsujātīya***) is helpful and should be studied. This leads to ***aparokṣa anubhava, jīvanmukti, videha kaivalya*** gradually

Smṛti also states that the omniscient poet, carrier of the Trident, is the first promulgator of these 18 ***Vidyās*** which take differing paths. It follows that these 18 ***Vidyas*** that are all authoritative, though each is applicable for differing classes of competency (***adhikārībhedena***). This has been clearly stated in ***Sūtasaṁhitā*** and similar works.

The ***nāstikā***, unbeliever in *Vedas* has ***adhikāra*** in ***darśanas*** such as ***Arhata*** and the like. Men of the first three classes have ***adhikāra*** in the path of *Veda*. Similarly the ***adhikāra*** of an individual varies according to the purity of his ***citta*** due to ***varṇa bheda*** or ***āśramabheda***, as the injunctions relating to *dharma* varies. Such texts praise any particular ***vidyā,*** addressed to those who are *Adhikari* therein. Their object is to induce them to follow it. Such texts again do not disparage any ***vidyā,*** addressed to those who are not *Adhikari* therein, and their object is to dissuade them from it. So these words of blame or praise should not be taken in the absolute sense. In other words, the different prescriptions of ***vidyās*** to different people are meant to suit their competency levels and not to undermine their status.

"ज्ञानाद् एव कैवल्यम् ॥" – From Knowledge alone,comes Libeation. The word ***jñāna*** signifies something other and higher than *Anubhava*. In *Nyaya* and other ***śastrās,*** it is stated that ***mokṣa*** will be attained by mastery in such particular ***śastrās,***. But that is merely a device by which knowledge of the higher stage is disclosed. There are texts which say **"कर्मणैव तु संसिद्धिः"** and **"यमैवेष वृणुते तेन लभ्यः॥"** "By Deed alone is acheivement", "It is attainable by him who is selected". The word *eva* refers to the ***bhūmikā*** which precludes one to take up ***sādhana*** without passing through the qualifying stages which is spoken of and prohibits ***sādhana*** for the attainment of fruit which can only be gained by mastery of, or competancy in *adhikara*, the next higher ***bhūmikā***. The words do not deny that there is a higher stage. The word alone in "***jñāna****theva*" indicates, however, that there is a stage of ***sādhana*** subsequent to that which is spoken of here. Thus there

is no conflict between *the **ṛśis** who* are the teachers of different *vidyas*. Each one of these ***bhūmikās*** has many sub-divisions which cannot be altogether seperated by experience *(anubhava*). So it has been said: "Oh! ***Rāghava,*** I have spoken to thee of the seven states (*Avastha*) of ignorance *(**ajñāna***). Each one consists of hundred ***bhūmikās***. Each is achieved by ***sādhana*** through many births. When a man by great effort prolonged through countless lives, and through a gradual process gains a full comprehension of the ***bhūmikā*** in which he has certain knowledge of the ***śabdatatva*** of *para brahman*. He ceases to have any great attachment to or aversion for *samsara* and this is a form of excellent ***citta śuddhi***. Such a one is qualified for the path of devotion(*Bhakti*)". For it has been said:

"Neither indifferent(***nirviṇṇa)*** nor attached, for such a person *bhakti yoga* grants achievement (*siddhida*)".

Historical Background of *Nityāśoḍaṣikārṇava (NS)*

NS is a part of VT. The importance of VT is shown by the fact that Bhaskar Ray (BR) claims for it the position of the independent 65th ***tantra*** which is mentioned in the 31st verse of the ***ānandalahari***. In the introduction of *Setubandha*, Bhaskar Ray (BR) ***talks*** about the need for this commentary. He refutes the point that ***Nityāśoḍaṣikārṇava (NS)*** contains 5 ***paṭalās***. In his view the text contains 2 ***Catussatīs***. The first is called ***Purvacatussatī*** and the second is called ***Uttaracatussati***. In all, it consists of 800 verses.

In his view *NS* is very deep like the hood of a serpent and man can never touch this subject. The Author says: "even then I follow the path of my previous Gurus and with strong devotion to the gurus, I take up this work" Those who wish to cross the ocean of ***Nityāśoḍaṣikārṇava (NS)*** must study this ***Setubandha*** which consists of 8 ***viśrāmās*** .The contents discussed in the eight ***viśrāmās*** are as follows.

First *viśrāmā:*

Devi enquires the Lord about the ***Nityāśoḍaṣikārṇava*** (*NS)* and the sixteen *Tithi Nityäs*. In reply to this Lord *çivä* explains that *Sakti*, which is not different from *çivä* is called the *Mahänityä*, who is *Tripurasundaré* herself.All other *Sakti's* are called *Nityäs* only. All these *Tithi Nityäs* are explined in terms of their *guëas* and are classified into five groups. The *païca bhütas* are *äkäça, väyu,* vahni, *salila* and *påthvi. Äkäça* has one *guna çabda, väyu* has two gunas çabda and *sparça. vahni,* has three *gunas çabda, sparça* and *rüpa. salila* has four *gunas, çabda, sparça, rüpa*, and *rasa*. Finally *påthvi* has all the five *gunas çabda* , sparça, *rüpa, rasa* and *gandha*. From darça in *çukla paksa* and from *pratipad* in *kåñëa paksa,* there all totally fifteen *Nityäs*. The *ädyä Nityä* is *Mahätripurasundaré.*

विमर्शाख्या तु नित्या सा पाञ्चविध्यं समागता।
आकाशानिलसप्तार्चिः सलिलावनिभेदतः।
एकैकगुणवृध्या तु तिथिसंख्यात्वमागतः॥

All the nine ***Cakrās*** are briefly discussed and the method of drawing it is described.The origin of the ***Mūlavidyā, pañcadaśākṣarī*** is also described here. The supremacy of ***Kādi vidyā*** is stressed here. Various other aspects discussed here are greatness of ***śrīcakrā vaśinyādivāgdevatāmantrāḥ trailokyamohanādicaktreśvarīmantrāḥ mūlavidyoddhāraḥ, cakrapūjopadeśaḥ.*** The ingredients needed in the beginning of worship are***, sāmānyārghyavidhiḥ and sagunadhyānam.*** The deities to be worshipped in the ***caturaśra, prathamarekhā, caturaśradvitīyarekhā, ṣoḍaśa dala, aṣṭa dala, caturdaśāracakra, bahirdaśāracakra, antardaśāracakra, aṣṭāśra*** and ***āyudhapūja*** in the middle of ***aṣṭakoṇa*** and ***trikoṇa. Mudrāviracanam, kāmakalādhyānam*** and ***visarjanam*** are discussed in 204 slokas.

Second ***viśrāmā:***

The śrīvidya sādhanā consists of four parts. They are śrīcakra, karaśuddhi nyāsā , pradhānabījatrayī, tatsamaṣṭirūpa mūlavidyā. Under the sūkṣmarūpa upāsana the cakra sādhana, bīja sādhana and mantrasādhanā are very important. This is dealt with here in the context of purascaraṇa. The Sadkarmaprayogaḥ namely Vaśya ākarṣaṇa Rakṣā Sānti and Māraṇādi are dealt with in detail, and is explained later in this work. There are forty sādhanās which are given in eighty one ślokās of this part.

Third ***viśrāmā:***

This viçrämä deals with the ten types of mudrä namely, Trikhaëòa mudrä, Sarvasaìkñobhakäriëé mudrä, Sarvavidräviëé mudrä Sarväkarçiné, sarvavaçankaré, Sarvonmädiné mudrä, Sarvamahäïkuçamudrä, Sarvakhecarémudrä, Sarvabéjamudrä and Yonimudrä. All these Mudräs are explained with the method of doing it precisely and their greatness is established very well.

Fourth ***viśrāmā:***

Having described the nature of gestures in 28 verses in the third chapter, now the greatness of the incantation is explained. ***Devī*** asks the Lord about the accomplishment of the incantations of the Great Goddess, about each letter individually, their knowledge, influence , pervasion, place to be concentrated and their absorption within the divine force on the physical and subtle body.

In reply to this question, the lord explains about the superior knowledge by knowing which the individual will not be drawn into the ocean of the cycle of birth and death. Goddess ***Tripura*** is the primordial power .This power generates the three worlds divided into physical and subtle. It sustains the three world till delusion. This power is known by many names such as ***Parābhaṭṭarikā, Tripurasundarī, ādyā śakti*** and ***Tripurā.***

The result of the power of incantation is also dealt with in detail. The aspirant who performs this ritual becomes the vanquisher of the tricks of argument of the group of great scholars. His power and genius cannot be countered. He becomes an expert of the essence of fine logic, grammar, ***mimamsa,*** figures of sound and sense in rhetories. Speech cascades from his mouth similar to a row of waves of the ocean hit by wind and becomes an expert poet composing ***Gadya, Padya, Dṛśya and Campū*** works with close knit delicate words with flashes of fine euphony ,meters and figures of speech.The group of great scholars are compared to elephants guarding the quarters and their pride is quelled by this particular aspirant.The face becomes fresh with lusture. Then the ***kāmya prayogā*** is described for achieving the desired objects. ***Tripurābhivyaktiprakāra*** is dealt with in detail which is explained later in this work. Even the Lord becomes a corpse devoid of this power.

This is also stated in ***Devī bhāgavata9 .***

In the end of the chapter after explaining the greatness of the ***Vidyā***, the Lord says, even I propitiate her thrice daily.10

मयाऽप्येतद् व्रतस्थेन क्रियतेऽद्यापि सुव्रते ।

जप्यं त्रिसन्ध्यमेतस्यास्तदेतत्पदसिद्धये ॥ ॥sl. no.79 ns

This can be considered as the most important ***viśrāmā*** because it explains the philosophical aspect of the Tantra.

Fifth *viśrāmā:*

This chapter explains in detail about the ***Japamālā*** used to chant the incantations, ***puraścaraṇa*** done for nine lakh times and the methods of doing oblation and the ingredients used. The different types of the ***kuṇḍa*** are also discussed in detail.This chapter consists of 44 verses. ***Puraścaraṇa is a form of sādhanā*** which consists of repeating a particular mantra for a large number of times. The ritual deals with the time and place of

performance, the measurements and decoration of the ***maṇḍapa***, or pandal, and of the altar and similar matters. There are certain rules as to the partaking of food both before and during its performance.

The latent association regarding the worship of the deity is mentioned. The aspirant worships the goddess in the form of consciousness with the flowers in the form of Ego of the universe. The deity is present in the ***Tāntrik*** design of sense organs of action,in order to accomplish all ends. The sense organ of knowledge and action are grouped around the ***Tāntrik*** design, due to coherence. It implies that the ***Tāntrik*** design of power – ***śakti*** and the goddess ***parā bhaṭṭārikā, Lalitā Tripurasundarī*** in the form of pure consciousness,who ought to be conceived in the form of knowledge without any target or object to be worshipped for accomplishing all occult powers and for obtaining the true nature of the soul as viewed in all beings of the universe and through that, for the accomplishment of all the benefits of the ritual related to material existence. These acts of worship are in the form of the Ego of the goddess in relation to the universe. In the universe, made up of 36 essential factors, the aspirant acquires the attitude of identity with Brahman, with the ego residing in all those principles due to his concentration. This attitude should also occur in a stream of consciousness constantly. This is the attitude of envisaging oneself with ***parā***. The aspirant nurtures affection for the goddess and identifies with her on instances,even when he is not worshipping the deity ie at stages like a dream, then what to say of waking state. The knower is one's own soul. The knowledge is water offerred for purification.That which is known is, ***Śrī cakra*** present outside. Worshipping this ***Cakra*** is considered to be a unifying act.

Here the passage on ***Tantrarāja, Gururādyā bhavecchaktiḥ*** upto ***prāktāstu vāsanā*** is interpreted as a complete passage without omitting anything.With regard to ***kāmākarṣiṇī*** and other deities of ***nityākalā,*** they are worshipped in the ***karaṇendriya*** alone. In 21 verses the ***vāsanā*** which

is stated in the verses should be taken as the import. In this manner in 44 verses, the inner and outer procedures of the ritual of incantation are stated briefly.

Sixth *viśrāmā:*

The various meanings that are unknown hitherto, are requested by ***Devī*** to be explained by ***śivā.*** The unknown meanings are*:* ***Cakrasaṅketa, Mantrasaṅketa and Pūjāsaṅketa. Śakti,*** by whose transformation this creation in the form of objects, words, plexuses, and bodies exist, should of necessity be known to us.

The YH(Heart of the ***yogini***), also known as ***Nitya hṛdaya*** and ***Sundari hṛdaya,*** is only a part of the enire work known as the ***Nityāśoḍaṣikārṇava*** (NS) (Ocean of the sixteen ***nityas),*** the other part being often seperately treated as the VT**.**

The chapter opens with ***Devī*** addressing ***Bhairava.*** In the first verse, she says that in this VT are many concealed things and she wishes to know the rest which has not yet been revealed. There are 86 verses in this chaper. ***Bhairava*** answers by saying he will reveal the Supreme Heart of the ***yogini,*** which is to be obtained orally, and should not be discriminately revealed.

Five fold nature of *śakti*

Śakti is fivefold and refers to creation, while ***śivā*** is fourfold and related to dissolution. The union of the five ***Śaktis*** and four fires creates the ***cakra*** that is the ***Śrī yantrā. Śivā*** and ***Śakti*** are fire and moon bindus and contact of both causes the ***hārdhakalā*** to flow, which becomes the third ***Bindu, Sun,*** and which gives rise to the ***Baindava*** or first ***cakrā ,*** the ***Bindu*** at the centre of the ***Yantra,*** which gives rise to the nine triangles or ***Navayoni,*** and these, in turn, cause the nine ***Maṇḍalās*** of the ***Yantra*** to blossom**.** This ***Baindava*** or central ***Bindu*** is ***Śivā*** and ***Śakti***, also referred to as the light and its mirror.

Kāmakalā

The ultimate ***Śakti ,*** by her own will assumed the form of the universe, first as a pulsating essence, consisting of the vowels of the alphabet. The ***Bindu*** of the ***Yantra*** is situated on a dense, flowering mass of lotus, and is self-aware consciousness, the ***Citkalā.*** The quivering union of ***Śivā*** and ***Śakti***, gradually creates the different ***Maṇḍalās*** of the ***Śrī yantrā***, which correspond to different letters of the sanskrit alphabet. ***Kāmakalā*** subsists in the great ***Bindu*** and is without parts. The text refers to nine different and successive subtle forms of sound which are beyond the vowels and consonants of the 51 letters of the alphabet.

States of Mind

There are four states of mind. These sections correspond to the waking state, to dream, to deep sleep and to the the ***turīyā*** or fourth. Beyond this is the absolute supreme which by its own will emanates the cosmos and is also one with the cosmos, the union of measure, measurer and the measured, the triple peaks, and the very self of ***Icchā, Jñāna ,Kriyā Saktis.*** The universe has the appearance of emanating from the unmanifest ***kāmeśvara*** and ***kāmeśvarī.***

Weapons of the Goddess

The noose which ***Tripurasundarī*** holds is ***Icchā,*** the goad is, ***Jñāna,*** and the bow and arrows are ***Kriyā Sakti,*** says ***Bhairava.*** By the blending of the ***Śivā*** and ***Śakti,*** the eight other ***maṇḍalās*** of the ***śrī yantrā*** come into creation. The remaining verses of this chapter deal with the creation of the other ***maṇḍalās*** of the ***Yantra.***

Seventh *viśrāmā:*

Bhairava tells the ***Devi, he*** will describe the ***mantra.*** Knowing this, ***a vira*** becomes like ***Tripura*** herself. There are 85 verses in this chapter.

Nine plexuses:

According to the text, each of the nine ***maṇḍalās*** of the ***śrī yantrā*** has a particular form of ***Tripurasundarī*** presiding over them, and a particular ***vidya*** appropriate to each. According to the text, these forms are ***Tripurā, Tripureśvarī, Tripurasundarī, Tripuravāsinī, Tripurāśrī Tripuramālinī, Tripurāsiddhi, Tripurāmbikā*** and the ninth is ***Mahātripurasundarī*** . She must be worshipped in this order in the nine ***cakras.***

Variety of Meanings:

The mantra may be understood in six different ways. ***Bhāvārtha, Sampradāya, nigama ,kaulika, sarvarahasya and mūlatattva .*** The text then proceeds to outline the significance of these different ways to understand the meanings (*artha*). ***Bhāskararāya,*** delineates the meaning of these in his work ***Varivasyārahasya.*** This work includes a detailed chart which shows the threefold divisions of ***Tripurasundarī*** as well as the nine subtle forms of speech beyond the letters of the alphabet.

Bhāvārtha:

Bhāvārtha is related to the fifteen lettered ***kādi vidyā mantra.*** Removing the ***three hrīṁs*** from the ***mantra*** shows the essential nature of ***Śivā*** and ***Śakti.*** The goddess embodies the 36 ***tattvas*** and is identical with this ***mantra.*** This meaning shows the essential sameness of ***devi, mantra*** and the cosmos.

Sampradāyārtha:

The ***Sampradāyārtha*** meaning shows the identity of the ***mantra*** with the five elements of ether, air, fire, water ***and*** earth; the fifteen letters of the ***mantra*** and senses of sound, touch, image, taste and smell. ***Bhāskararāya*** says, "as there is no difference between the cause and its effect, between the thing signified ***(vācya)*** and the word which signifies the thing ***(vācaka),***

and between ***Brahman*** and the universe, so also the universe and this ***vidya*** are identical in relation to each other."

Nigarbhārtha:

The ***Nigarbhārtha*** shows the identity of the supreme ***devata with the guru,*** and because of the grace of the ***guru,*** one's own self.

Kaulikārtha:

The ***Kaulikārtha*** is that she, the supreme goddess, says her attendant ***Śaktis*** one with her. So, she is ***Icchā, Jñāna and Kriyā;*** the fire , the sun and the moon; and the nine planets and other celestial phenomena, as well as the objects of the senses, the senses, and other constituent parts which are also present in the microcosm. In this form she is ***Ganesi. Again , her Śaktis*** and she are inseperable and this is represented by her inseparability from ***the śrī yantrā.***

Rahasyārtha:

The secret meaning of the mantra is the union of the Devi with the 50 letters which represent 16 Moon kalās, am amṛtā kalā, āṁ mānadā kalā, iṁ pūṣā kalā, īṁ tuṣṭi kalā, uṁ puṣṭi kalā, ūṁ rati kalā, ṛṁ dhṛti kalā, ṛiṁ śaśinī kalā, ḷṁ candrikā kalā, Ḷṁ kānti kalā, eṁ jyotsnākalā, aiṁ śrī kalā, om prīti kalā, aum aṅgadā kalā, aṁ pūrṇā kalā and ***aḥ pūrṇāmṛtā kalā.*** 12 Sun ***kalās, kaṁ bhaṁ tapinī kalā, khaṁ baṁ tāpinī kalā, gaṁ phaṁ dhūmrā kalā, ghaṁ paṁ marīci kalā, ṅaṁ naṁ jvālinī kalā, caṁ dhaṁ ruci kalā, chaṁ daṁ suṣumnākalā, jaṁ thaṁ bhogadā kalā, jhaṁ taṁ viśvā kalā, ñaṁ ṇaṁ bodhinī kalā, ṭaṁ ḍhaṁ dhāriṇī kalā*** and ***ṭhaṁ ḍaṁ kṣamā kalā.*** 10 Fire ***kalās, yaṁ dhūmrārci kalā, ram ūṣmā kalā, laṁ jvalinī kalā, vaṁ jvālinī kalā, śaṁ viphuliṅginī kalā, ṣaṁ suśrī kalā, saṁ surūpā kalā, haṁ kapilā kalā, ḻaṁ havyavāhinī kalā*** and ***kṣaṁ kavyavāhinī kalā*** corresponding to the ***kulakuṇḍalinī,*** which extends from ***mūlādhāra cakra,*** shoots through the ***ajñā cakra*** and then beyond, causing a flow of

amṛtā or nectar to drench the body. She sleeps, she wakes and she sleeps again, and once more, is identical with ***mantra, Yantra, guru and*** the shining own self. The supreme absolute is one with ***Śivā*** and ***Śakti.***

The ***tattva*** meaning is hat she is one with the 36 ***tattvas***, also with the letters of the alphabet and the forms they take. Breath, as well as time, is the form of the ***Devi Tripurasundari.*** The practical application of these concepts is to be learned at the feet of the ***guru.***

Eighth ***viśrāmā:***

Pūjā saṅketa: This is called ***pūjā saṅketa,*** or section relating to worship in three senses described as ***parā ,parāparā*** and ***aparā.*** This is a very long chapter and contains 206 verses. The first ***parā pūjā*** consists of identity with the supreme absolute, the second,***parāparā pūjā*** consists of meditation ***(bhāvanā) ,*** while the third one ***aparā pūjā*** is related to ritual worship . This chapter mostly deals with ***Nyāsā,*** and starts with the sixfold ***Nyāsā*** related to ***gaṇeśās, grahas,*** the 27 stars, the six ***yoginis*** of the bodily ***dhātus,*** the ***rāśis*** or 12 sidereal constellations and the ***pīṭhas.*** There is also a description of this six fold ***Nyāsa*** in the ***Gāndharva tantra.*** It follows with the ***Śrī cakra nyāsā ,*** from the ***Nityotsava.***

Other ***Nyāsās,*** including hand ***Nyāsa*** are outlined, along with the daily ***pūjā*** of ***Tripurasundari*** and descriptions of the attendants ***(āvaraṇa devatās)*** to be found in the nine mandalas of the ***Yantra.***

The chapter closes with an admonition that the details of this *tantra* should be concealed and not revealed to any one who is not initiated into the practice. ***Bhāskararāyā*** concludes thus,

प्रमादो मेऽवश्यं भवति मतिमान्द्यादलसतः ।
पदार्थन्यायानामपि दुरवगाहत्वनियमात् ।
परं त्वन्तः सन्तः सदयहृदया नाथचरणा-
वुदारौ तस्मान्मे न खलु खलपापोभयभयम् ॥

अद्याप्यस्ति विपश्चितामपि महत्सन्देहकोटिद्वयं
यः श्रुत्या जगदीश्वरो निगदितः सप्तः किमप्तोऽथ सः।
तत्रेशः प्रथमैव कोटिरिति किं निश्चायनाय स्फुटं
नाम्नैव प्रथितोऽभवत्परशिवः श्रीसप्तकोटीश्वरः॥

References

1. *Nityāśoḍaṣikārṇava* (NS), p.no.1 *सेतुबन्धव्याख्यायाम्*
2. ईशानः सर्वविद्यानाम् (*महानारायण उपनिषद्*)
   यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम् यो वै वेदाश्च प्रहिनोति (*नृसिम्हतापिनि उपनिषद्*)
3. यानि तत्तद् विद्या प्रशंसकानि वचनानि॥
   तानि तत्तद् अधिकारिणां प्रत्येव प्रवर्तकानि॥ ***sūta saṁhitā***।
4. ***bhagavat gītā*** ch. Verse no.
5. ibid
6. *सेतुबन्धव्याख्यायाम्*
   वामकेश्वरतन्त्रस्थे नित्याषोडशिकार्णवे।
   पूर्वोत्तरचतुःशत्यौ व्याचष्टे भास्करः सुधीः॥p.no1. verse no.2
7. नित्याषोडशिकार्णवनम्नि तन्त्रे शिवैकपरतन्त्रे।
   अतिगहने फणिपटले स्पन्दितुमपि कःक्षमो मनुजः॥
   यद्यप्येवमथापि तु पूर्वाचार्यैः प्रदर्शितं सेतुम्।
   दृढबन्धैरुद्धर्तुं गुरुभक्त्यैव प्रवर्तितोऽस्मि बलात्॥ibid v.no.3,4,5.
8. ***Nityāśoḍaṣikārṇava*** (NS), vide ch.3 p.no113-120
9. शिवोऽपि शवतां याति कुन्डलिन्या विवर्जितः।
   शक्तिहीनो हि यः कश्चिदसमर्थः स्मृतो बुधैः॥ ***devī bhāgavatam***
10. ***Nityāśoḍaṣikārṇava*** (NS), vide ch.4, verse no.79
11. VVR verses 57 -187
12. *सेतुबन्धव्याख्यायाम्* Vide ch.8 P.no.321
13. ibid verses 4,5

No. 3 First truest main Road
Mandavelipakkam
Chennai-600028
Mob.: 9094863776

Thirty Six Tattvas

Dr. Chaman Lal Raina

Tattva is the integral concept within the Trika system. Tattva is a philosophic term. It is Sanskrit word, which means 'Thatness' of the Abosolute which is explained as the different layers or tiers of consciousness. It can be translated as 'Thatness', which is the derivative of 'Tat' or' That' —, referring to that, which is present, not visible to the eye, neither can be touched, nor can be heard, but can be realized through human experience, andthesimple, etodolgy of the self-awareness. Taking it literally, it is relly that whatsoever is seen, observed, felt or touched is the reflection of' That. Hence, the Tattva can be explained variously.[1]

Some times the forms of 'Tat' are used with the first and second personal pronouns, as well as demonstratives and relative terms, for the sake of emphasis. *Tat* has various connotations. Ithas objectivity, in appearance and perception. Ācārya Kśemaraja —the great Ācārya of the Kashmir Shaivism says of the thirty six Tattvas. Verily, that is the foundational book of the Kashmir Shaivism, also called the Trika philosophy of Kashmir. Acārya Abhinavgupta explains about this Tattva term as: " The innate nature of the Absolute Truth is varied. The '*Prameya*'—is the object of certain knowledge, with a demonstrated conclusion, discussed logically and on the basis of the perception, inference, intuition, vebal testimony.[2]

The great significance is on the word 'Tat'. It is not element, which has different connotation in science. 'Tat' is Siva state of existence in the Trika system. It is the wholeness and totality of exsistence, where there is all perfection with no space for nothingness. Tattva is the Dharma of 'Tat',

which is also 'Tatsat', because 'That'— 'That Absolute is always real, pure and true, without any trace of darkness. The Trika philosophy speaks of the Thirty six Tattvas. The great Ācaryas of Kashmir Shaivism have decoded the Siva state of existence in three segments. Tattva is the Primordial spirit, knowing the 'All' embracing and enveloping nature of Śiva.[3]

Tattva has got the spiritual merit for understanding the intimacy with Śiva, including the other 35 Tattvas. Hence, the great concept of being an aggregate of "Śat-Trimśat Tattvāni". All these Tattvas are integrated in the string of Self-recognition, nearer than nearness of the Self. It explores the knowledge about the impenetrable, occult, mystyrious and integrating all the constituents, that make the universe in relation to human being, centered around 'Siva', who is Absolute, but having its existence through other Tattvas in relation to the 'Nara'—human being. It provides the essentials of ecstacy welded with peace. It is to see the Self in the state of omnipresence of the omniscient and omnipotent. Kashmir Shaivism has got its roots in the *'Parā-Prāveśikā* '—a spiritual guide but practical gift to humanity by Siva itself, through the intuitive vision of Acarya Kśemaraja.[4]

These are said to be under the following pattern—

1. Śiva, 2. Śakti, 3. Sadāśiva, 4. Iśvara, 5. Śuddha-Vidyā, 6. Māyā, 7. Kalā, 8. Vidyā, 9. Rāga, 10. Kā la, 11. Niyati, 12. Puruṣa 13. Prakrti, 14. Buddhi 15. Ahankāra 16. Mana, 17. Śrotra 18. Tvak, 19. Cakśu 20. Jihvā, 21. Ghrāṇa, 22. Vāk, 23. Pāṇi, 24. Pāda, 25. Pāyu, 26. Upastha, 27. Śabda, 28. Spaṣra, 29. Rūpa, 30. Rasa, 31. Gandha, 32. Ākāśa, 33. Vāyu, 34. Vahni, 35. Salila, 36. Pṛthvi.

Śiva is the 'First' principle of the universal consciousness. It is an excellence, quintessence of the primary substance constituted with all the electrons, if taken as element. Tattva is 'Thatness', which is the quality of being a definite thing, which stands as an object. What lasts till, it is the universal dissolution is all existentTattva. It is to be realized through

'Dhyāna' or meditation onŚiva through awareness and consciousness, that is ultimate oneness. Tattva is an explanation, an interpretation and an answer to the 'Hymn to Creation', as is seen in the 'Nāsdiya Sukta' of the Rgveda. With the knowledge of decoding the truth, which is That—Śiva, who is omnipotent, omniscient and omnipresent, being the answer to the spiritual quest and solution towards the human aspiration. It is to realize Śiva state of existence in the Trika system which is wholeness, a totality of existence, where there is no space for nothingness. Tattva is therefore, the 'Dharma' of 'Tat', which is also 'Tatsat', which is truth based on eternal existence.

The pure principles are five in number. Śiva Tattva is the first of these and the cause of the rest – 'Śakti, 'Sadā ś iva', 'Iś vara' and 'Śuddhavidyā ' including the other Kriyā / action. It happens to be the cause of other pure principles. Neither Śiva nor its inherent Śakti can be directly the cause of any principles as they would then be the cause liable to transformation and affected by confluence. Thus Śiva Tattva is a fundamental principle as mentioned earlier.

"Not only is the medieval 'Śaiva Siddhānta tradition, being one of the most popular and persistent Saivistic philosophies, it has also provided the fundamental basis for the ritualistic and theological traditions of many other Śaiva groups that followed it. The tradition seems to have originated as early as the sixth century C. E. in Kashmir, although it also flourished in South India. Between the eleventh or twelfth centuries C. E. Śaiva Sidhānta was well-established in South India, particularly in Tamil Nadu. Thus the Siddhā nta upholds the older Pāś upata distinction between three eternal realities of Jivātma souls, Jiva, and the Jagat or the physical world. Śiva, the supreme Divine being, is the effecient cause of the universe and the volitional souls are within it, while its own energy—Śakti provides the instrumental cause. Souls are bound to the material state because of ignorance, 'Karma', and 'Māyā ', the illusory aspects of reality. Siva, however, provides the soul with

the abiltiy to obtain empirical knowledge, which in turn leads to action that is either good or evil". (—*New World Encyclopedia on " Shaivism"*)

In essence, Dr. Burnett has translated the 'Aghora' Śiva's commentary on the 'Tattva Prakasha' is saying that even the realistic school has to admit 'Māyā' to be a *Parigraha Śakti*. While, however, the idealistic school draws what seems to be the natural inference and compares the product to the reflection in a mirror. Aghora Siva condemns it as an interpolation. (— C. f. *Cultural Heritage of India, Kashmir Shaivism*, Vol IV)

Souls in their essential nature are the same as Divine Being is, but their potencies are concealed by the Tattvas, because of ignorance, termes as 'Avidyā'. The ignorance of souls can be removed partially through the bodies, instruments provided by 'Aśuddha Māyā ', which is the physical world around us. Divinity functions through itss own energy called the energy of concealment or the 'Tirodhāna Śakti'. Through mere momentum or through the residue of 'Prārabdha', which means the resultant force of the actions done previous lives. The physical body may persist for a while after spiritual illumination; but it does not fetter the enlightened soul, since it is not cognized as such. The attainment of 'Śivatva' may be understood as the identification with Śiva alone.[5]

C. f. — Internet archives The great Ācāryas of this philosophy have decoded that Siva state of existence is in Three segments. These stand as*:* Āt*ma Tattva, Vidy*ā *Tattva,* 'Ś*iva Tattva.* [6]

'Ātma Tattva' is *M*āy*ā*, 'Vidyā Tattva' is 'Sadā –Śiva' and 'Śiva Tattva' is both 'Śiva and Śakti' in unison, when both get merged as a singular 'Prakāśa' and 'Vimarśa', while being meditated upon together. It gives 'Ānanda' of being in the awareness of 'Śiva, within and around. From the Āgamic view. It is said to be a synthesis of the Tattvas from '*Pṛthivi-Tattva'* to the 'Māyā -Tattva', which are twenty one in number, while Māyā Tattva is also termed as 'Vidyā -Tattva', in which Śuddha Vidyā, Iśvara, Sadā -Śiva

are integrated as One unit and Śiva is identical with Śakti, as recognized in the 'Śri Cakra/Yantra and the Cakreśvara.[7]

Theologically, some woprship the Cakra, but philosophically there is a feeling of the awakening of the inner self, which gets reflected within. A further analysis is made by the great Ācaryas in understanding the Trika system or triadic of the Tattvas. In the beginning, 'Śiva happened to be alone, only One, without any second. There happened no duality. Then, a '*Sankalpa*' occured about the creation, which is duality. Sankalpa is surrounded by the 'Vikalpas'. Sankalpa is one, *Vikalpas* can be more than one, and it causes duality. It is termed as 'Icchā-Śakti' in the Āgamas, giving a furtherence to it by 'Jñāna - Sakti', to be concluded with 'Kriyā Śakti'. All these having its source in ONE. A *Sukśama Srṣti* / subtle creation took place, followed instantaneously by 'Śabda- Śakti', the force of sound, which is AUM/OM.[8]

Thus, 'Pañca / Five Jñāanendriya' are determined from the 22nd Tattva to the 26th Tattva and 'Pañca/ Five Karma-Indriya' are determined from 27th Tattva to the 31st Tattva, including 'Pañca/ Five Viśaya Indriya' are determined from 32nd to the 36th Tattva, also known as the 'Pañca Mahabhutas'. Śiva functions through Śakti, when is in the state or realm of 'Prapañca'—the essentials of the Pañca-Tattvas, which are 'Brahmā--Viṣṇu--Rudra- Iśvara, Sadāśiva'.

Nature and functioning of the Tattvas

1. Śiva Tattva—Absolute Rality

This First and Primal Tattva is Pure consciousness, giving rise to Icchā -- desire or will, having the prospect of finding solution to the 'will' to do and act. It is having no *Rupa* or form, but only affirmation. Śiva is ' Anādi-Amrta-Tatttva' or immortality, with delight. Śiva is 'Praka śa, an illumination that shines itself. According to the 'Mālini Tantra', the first sixteen letters of the *Var*ṇa*m*ālā represent Śiva, which is '*Akhil*ātma', the

universal Soul or Absolute self. But according to the Purāṇas, the same Śiva Tattva has been described in the Śiva Sahsranāma of thousand epithets, through allegories, narrations of morality and description givening shape and form to the formless which is being oblated and offered with 'Ahutis' in the Yajña along with the hymns eulogizing Śakti—with various epithets. Śiva Tattva can not be isolated, though it is more intuitiuve for the awaken '*Nara*'— manifestation of the human being, which is both male and female, according to the Trika analysis.

Jñana and Kriyā are but the complementary units or forces of Icchā, which is knowing and doing with an awareness towards the Ichhā. There is perfection, when the Triadic of Icchā, Jñāna and Kriyā go in unison. These are all found in the Śiva Tattva. The great commentator

'Bhāskararai' of the Agamas says in the '*Saubhagya Bhāskara'*, about the nature of Śiva as under : "At the time of Pralaya or final dissolution. the 'Cit Śakti' also merged with Śiva, with its all manifestation and by this integration, Śiva became Niṣkriya—actionless at that period of dissolution. It is also known as universal *Samādhi,* in totality. According to the '*Jñārṇava Tantra'*—- "The 'Cinmayi -Śakti' brings higher form of mystic experience, which is the eternal Ś*abda*--sound, or we may say the innermost vibrating force of consciousness latent in Śiva with the association of Śakti". Hence, adored and appreciated as the 'Cinmayi - Śakti'. The hymn to creation speaks of 'Prathama Sphurti--Primal vibration'. So Śiva in itself is the 'First Tattva' which is 'Caitanya'/ consciousness, as seen in the first Sūtra of the '*Parā –Prāve śiikā* '.[9]

2. Śakti Tattva – Eternal Power.

Śakti is the complementary Tattva to the First Tattva, which is Śiva. It is an out burst of Śiva itself. It is '*Viśva-Srjana'* and in no way differentiated, rather this is pure integration, which is responsible for creating the universes because of the *Icch*ā Ś*akti* of Śiva. Śiva being 'Nirguṇa', wanted to be with

attributes or qualitative attributes as Guṇa and to be more than one, as the aphorism goes—'Ekoham Bahusyāma'. Hence, this Icchā -- willingness to be many is the captivating pursuit of the Unknowable.[10]

Śiva is capable of doing any *Kriy*ā to have the universe manifest, which is its 'Ādi-Spandanam''First Spandan'. That is revered as the 'Spandan Śakti' adored with various names and forms. Finding it prevalent though human eye in the form of manifestation, which gives 'Nara' or embodied soul, *salila/* water to drink, greenery in the form of Śā*kambarī* for life sustenance. It includes solar, lunar, aerial, igneous and the energy related constituents to the earth planet. Hence, revered as Ś akti, in multiforms. 'Śakti' is always with 'Śaktimāna'— Śiva. Śakti is none other than the inclusive and inherent power of Śiva, who is 'Bhairava', according to the Tantrāloka of Abhinavgupta.[11]

The five facets of Śiva, as described in the 'Bahu-Rupa Garbha'. When Śiva is devoid of any thought, then it is said to be its 'Cidananda Svarupa'. It can be explained in the physical way like a glass/mirror is neeeded to look one'sown self or physical power, so is the 'Vimarśa' needed for 'Prakāśa' to see its own nature. Like wise, the taste of sugar is to be realized after tasting it. Sweetness of honey is to be tasted not by honey, but by any living being. That is the Śakti Tattva.[12]

Before discussing the 'Sadā Siva Tattva', it is necessary to know about the Oneness of Śiva and Śakti.

The Kāma-Kalā text on the Tripura Sundari says:

"Śiva and Śakti are the dual formations as 'Kāma'/Prakāsa and 'Kalā' /Vimarśa. The subtle form of *Kāma Kal*ā is Eternal in essence but mystic in approach. Śiva is 'Being and Bliss' in One, and the self of all, always with 'Caitanya'--conscious of himself. That himself is Śakti within Śiva—the Absolute One."

Ādi Śankara says in the *Saundarya Lahiri*:

"Śivaḥ Śaktyā Yukto Yadi Śaktaḥ Prabhavitum
Na Cedevam Devo Na Khalu Kuśalaḥ Spanditumapi
Atastvām Āradhyām Hari Hara Viranchyādibhirapi
Praṇantum Stotum Va Kathama Krita Punyah Pra Bhavati"

— Śloka 1

"Śiva with Śakti is always powerful to create this universe. Otherwise, it is unable to do this action. Therefore, who except with great merits acquired in the previous lives, can praise you.

O Divine Mother, as Hari/Visnu, Hara/Śiva, Viranci/Brahma are always in adoration of your existence. "

The Śiva Drsti says—

"Na Śivaḥ Śaktirahito Na Śaktir Vyatirekini. "

Śiva is not without Śakti, equally Śakti is not independent of Śiva. Both Śiva and Śakti are interdependent. The Lalita Sahsranama explains that Ś iva alone is Śakti's wielder, and Śakti as its integral self. Hence, Śakti revered as 'Tripura Sundari' is as real as 'Brahman', explained in the Advaita Vedanta and Shiva of the Āgamas.[13]

3. Sadā-Śiva Tattva or Sadākhya Tattva, the First Stiring of life, or Spandana.

Sadā -Śiva is of great significance with respect to Rūpa--the form, from pure light to the form with dimension. When the 'Jagat' of the human perception is still in the potential form as in the ' Bija Rūpa' and is undifferentiated from the existence of 'Ahantā ', then Śiva is said to be the 'Sada- Śiva Tattva'. Śiva being the sovereign Spirit of this universe, thus the whole 'Jagat, is enveloped by his Śakti. That is the 'Aham' or 'I-ness state' of of Śiva. When Śiva bestows 'Anugraha'--infinite grace, the whole

universe comes into existence. That *Anugraha* form of Śiva is 'Sadā- Śiva'. It is a form of the formlessness, which is the 'Parma-Tattva' as Śiva is. The 'Viśveśvara – Śiva' expresses himself identified with the universe, in the spiritual ecstacy of 'Antarnimesa'--deep Samādhi within, and that Tattva is the 'Sadā- Śiva Tattva.'[14]

This very concept is the essence of Eternal bliss and external manifestation, of the Sadā - Śiva Tattva. This Tattva is aware of the true meaning of the 'Svātantrya', which is freedom to manifest, to act and to recapitulate, possesed of a body for the sake of the devotees, yet unidentified with it. He neither directs the senses in its manifestations, but does act spontaneously. It is just like a free soul; that looks like attaining a 'Śarira'—the physical body, but in essence is completely merged with Śiva and Śakti.[15]

This is his 'Sadā--Śiva' nature, as these names are related to the Śiva in the Pur ānas. This is revered as the 'Bahir-Unmesha' aspect of the 'Sadā - Śiva'. The opening of the Universal eye is the 'Sad ā- Śiva' Tattva, being the 'Thatness of Śiva'. Śiva itself is said to be 'Prakā śa' and Śakti as 'Vimarśa'. This Vimarśa Śakti happens to be the Primal source of 'Creation-Sustenance – Dissolution'. The thinkers of the Kashmir tradition call it as 'Caitanya', 'Samvit, 'Parā –Vāk' etc. 'Aham and Idam' are the twin forces of this Vimarśa Rūpini Śakti. Prakāśa which is the epicenter of the 'Aham' consciousness and 'Idam' portion contains the application of Vimarś a. Mantra-Mahe vara are the Divinities, which abide in the Sadā – Śiva Tattva, according to the *Para-Tritriśika Vivarṇa.*

4. Iśvara—The Emergence

The word or the term 'Iśvara' has been used in the Vedas as well as Puranas, but the '*Bhavani Sahasnama'* says 'Iśvara Uvāca' has been said by Nandekeśvara, as an address to Siva. The Vedas declare: "Iśvara is All powerful, merciful, just as the 'Hiranyagarbha' is. Hence, being the cause of the whole manifestation, which according to the Vedas is 'Eternal Prakṛti'.

He does sustain the earth planet and other 'Lokās' or realms. He bestows upon the graceful knowledge of the Vedas, which is the Supreme revelation revealed to the Rśis by Him alone. He is the cause of all radiant regions—the Sun and the luminous Moon, including other heavenly bodies. He is the bestower of knowledge, which is both immanent and transcendent. He is the sustainer and an 'Effulgent' being. He is the blissful Iśvara, who keeps us away from evil. To achieve this end, a human being contemplates on the Divine nature of Iśvara—the 'Supreme Ruler' of all the worlds.[16]

Iśvara is, abiding within them, as those souls are in the vehicle of the body. Here, Iśvara is Supreme, but works with M āyā, which is of illusive nature. The 'Jivātman' or creature is subject to transmigration, because of the deeds and actions. Lord Krishna, who is adored as 'Bhagavāna in the 59th Sloka in the concluding chapter of the *Bhagvadgit* ās :

" Iśvara abides in the heart of all creatures"

Here, Arjuna should be taken as 'Nara' according to the Trika philosophy. Ācārya Abhinavgupta explains this very śloka as under:

The Śloka suggests that submission to Iśvara or Divinity is essentially important and necessarily required, as this is the definite principle of 'life in existence'. He is the efficient cause and abides in Self and is the innate nature of the Self. On being in the very contemplation of the Divine, who is Iśvara, the effect of *Karmas* vanish away.

Utpalācārya says about Ishvara in the *Śiva Stotrāvali*:

"Iśvara! I alone am the beautiful soul. I am myself 'Iśvara', who is free from all the bonds of activities. *'Panditosmi'*--I am Pandit the learned one. I alone exist, nobody equals me.[17]

Iśvara is *Paśupati*, as described in the Trika system of thought. He is *Candra śekhara* of the Puranas. He is *Maheśvara*, as described in the Āgamas and Śankara of the Vedas etc. Ācārya Kṣemarāja in the *'Parā* –

Prāveśikā' says: The Jagat /universe, when got sprouted from Śiva, established by it is still covered by ' Aham' or I—consciousness.[18]

That is the 'Iśvara Tattva'. Beyond doubt, *Jagat* is the Iśvara Tattva, because of the I-consciousness of the individual soul. In short, this Tattva is based on 'Aham'—myself as being and 'Idam', which is present, as time is always current. It means here, something is near and close to my being. It is laying emphasis on 'Idam'. Śiva, through his Advaitic nature fashioned himself, as with the autonomous quality of 'Svātantrya', assumed the innate form of Ishvara, to be adored by the Jagat, with manifestation.

— Iśvara Pratyabijna (I, 5, 16)

5. Śuddha/or Sadvidyā -Vidyā Tattva is the self-identification.

Śuddha Vidyā stands for that Vidyā or knowledge, which makes our *Vrittis*--being in a particular state of mind, pure with the firm conviction that I am 'Jagat'/universe, in all my functions of life. I am not different from this universe. A synthesis of 'Aham'—'I am' and 'Idam', which stands for the expression for 'This is', when experienced by the aspirant, is a stepping towards the Shiva Tattva. The 'Aham –Vimarśa' is the Śiva Tattva and 'Idam-- Vimarsha' is 'Sadashiva Tattva'. The focus is on the *Vimarśa,* which is the Śakti Tattva. The meeting point between a jiva with Śiva is 'Idamta--this verily, exists'. Śuddha Vidyā is to reach the Śiva Tattva through 'Vimarśa Rūpini Śakti', and realize through 'Ahamta'--I verily, do exist'. All our knowledge of reasoning is concerning 'Idam', which is the object and event. Nature is always providing principles to know the relationship between substance and attributes. In this manner, every object in the universe is experienced purely between the fusion of Śiva and Śakti. When ignorance is destroyed caused by time, place and situation, the 'Ananadamaya Kosha' or sheath of bliss maintains the real 'I', which is understood as Śiva.[19]

6. Māyā Tattva—Limited individual Experience.

Māyā is that, which differentiates between the subject and the object. Subject is the 'I-consciousness' of Pure Ā*tman* or the 'Śuddha Caitanya', which is Self or 'Aham-Asmi' as said by Ācārya Utpaladeva, in the Shivastotravali. When the doer sees or observes or thinks the difference in 'Aham and idam'. Then, it is certainly said to be the 'Māyā-Tattva'.

The whirls, which makes a 'Jiva' think that the 'Jagat' is different from him/her, is known as the influence of the 'Maya-Tattva'. This is more prominent in differentiation. It creates the illusion that there is 'Bheda' or duality in subject and object. Māyā is also the *free-will* of Śiva. It does create a web or veiling net, so that the *Reality* is not felt or awareness of Śiva is not realized, because of the forgotten consciousness of the Ā*tman*, which abides in the very Self of the 'Nara'. The creativity lies in the Māyā -Tattva' as none of the *Tattvas* are different. Each and every Tattva is integrated. 'Maya Tattva' can be individualistic, while the 'Śiva' Tattva is holistic. It does create a *web lock* like knot —"Vāgurā Bandha Rūpa Ca*"*, as said in the *Bhavāni Sahsra nāma*.

Ācārya Abhinavagupta says: — 'Tato Māyā Tripuṭika Granthi'

Force of of 'Maya' including 'Māyā Granthi' is understood as the knots of Māyā*,* which is 'Vimohini Śakti'-- a power that puts the Jiva in confusing, fascinating or bewitching state. This Tattva is filled with five types of 'Kancukas'—sloughs, cloaks, robes or covers. It is not of any particular kind, but with five limiting conditions.[20]

'Kalā'-'Vidyā'-'Rāga'- 'Kāla'-'Niyati' are said to be the out bursts of the 'Māyā Tattva'. These are functional impurities.

7. Kalā Tattva—limited creativity

Because of Kalā, a *Jiva* can recognize the object. Whatsoever is and whatsoever happens to be is related to the Kala, which is time in serial order.

It is the limited power of action that Kalā operates only, just like a seed can grow only, when sown in the soil and is associated with water, sunshine, air, shade and proper nourishment etc.

8. Vidyā -- Limited consciousness

Vidyā Tattva is limited to certain truth, which is partial one. It is mundane in nature. The limitation, which is found in understanding the true import of Siva is understood as the Vidyā Tattva. The cause which limits the knowledge or capability of all knowing Shiva to its limited shores is the 'Vidyā Tattva'.

9. Rāga --limited interest or attachment

Rāga is close to the sense objects, which does create unknown faces of eventualities. It is of more emotive nature, than rationalizing of the objects. The mine aspect is attachment, which is *Raga*. Thus the *Guṇ as*--qualities are attributed to the objects. It should not be considered as the antonym of *Vairagya*/ dispassion, which is always taken as the *Guṇa* of 'Buddhi'--intellect. This Raga Tattva is more subtler than the *Sthoola Rāga/* physical attachment.

10. Kāla-- The limited Duration or time-the Serial

It is that aspect of the Tattva, which reflects the 'Sankoca'/shrinking of the *jnana* of the 'Jivatma' and the Jiva feels limitations of doing any action, or some actions. Ācārya Abhinavgupta considers the origin as the *Prathama Srishti/* first creation. A *Nara*/Jiva thinks of I-ness as person/ self and mine. It is counting and flowing with Time, the Serial

11. Niyati Tattva—Classification of the limited attachment

Man is subject to the causal law. It is known as 'Niyati', in Śaiva Darśana. Kāla is understood, as an object of omnipotence and also as limiting condition and a standard of measure. This is a *Niyama*, about the liking or not liking of the object in reference to a Jiva. This Tattva means to

decide for doing this or that action. It decides the options and is bound to the results of the option undertaken. It is also taken as reference to the Kāla, wherein there is *Niyamana*/ about the liking and not liking of the object in reference to the Jiva.

12. Puruṣa —Manifesting through limitation, or form

When Śiva conceals its true nature and descends with the five *Kancukas,* enveloped by 'Maya', then it gets the recognition of 'Puruṣa ', being the conscious aspect of personality, absorbed within the grand and glorious urge to live.

13. Prakṛti — ' Citta' or operative Will-Power.

Prakṛti is the executive activity and force inthe universe, keeping it in a state of equi-poise. Prakrti consists of 'Sattva-Rajas-Tamas'. It is the 'Mūla Kārana'—fundamental cause of manifestation, when these Gunas or attruibutes are in equipoise ū. Prakṛti is subject to mutation, it is recognized reality. Hence, diversity is seen and is being appreciated by the admirers of the Śakti in nature, who love nature. Prakṛti is for exploration and not for exploitation. That is why the Śāktas see the Divinity in rocks, water bodies, botanical life—flowers, shrubs, herbs and trees. They see the force of Prakṛti in all the seasons of the year, including the early dawn of the Sunrise and Sunset. This is called the mutation.[21]

14. Buddhi Tattva—Intellect with reasoning

Buddhi is the intellect, which decides, decifers, infers, assimilates and perceives to know and to act through reasoning for getting the best option. It is the Tattva, which becomes the source of deciding and proceesding ahead.

15. Ahamkāra Tattva- Ego or egoistic feeling, personality of subjectivity.

Ahamkāra is the egoistic tendency, which gives the impulses of 'mine' and 'not mine'. This is the ego related to the finitude of 'Nara'.

16. Manas/h Tattva - Mind

Manah is mind, which conceives and imagines; perceives and believes. It is mind that looks after and frames the opinion about thoroughness. It is cognizant, with a vehicle of thoughts and desires. It is the Tattva that receives the impressions and records the situations gathered from the outer-self in relation to the Śiva, Śakti and Jagat. It is the inner sense ta is attained, when 'Rajas' preponderates over Sattva and Tamas, being therhythm of happiness and inertia of delusion.[22]

17. Śrotra Tattva -Ears

It is the Tattva, which makes 'Nara' to listen to, to hear and to make differentiation between sound and sound, inspite of the fact that the 'Nara' may not be able to visualize the object. It is theauditory sense that listens to the sound.

18. Tvak Tattva--Skin

It is the skin, which gives covering to the internal body. It is a layer for protection of the tissues, and physical organism, being adjunct to the anatomy of the body. It is the sence of feeling a touch.

19. Cakṣu Tattva—The Optic sense, which is Vision

It is the eye, to see and visualize. It is for seeing and looking, gluing and glancing. It blinks. It woos and winks. It surveys and decifers and decodes. This is the Tattva of recognizing the objective world.

20. Jihvā Tattva—The tongue, whichis related to the Gastr0-intastinal system, in the body.

This Tattva is the faculty of speech. It is the fleshy organ in the mouth, used for tasting, swallowing and for speeking. It produces sound with articulation and puts the speech in the 'Udātta'- 'Anudātta' and 'Svarita'. It is for doing the *Japah* for reciting the *Divine* name and for the recitation of

the sacred Mantras etc. Mainly, it is for communicating with others. The mouth is for pronouncing the word correctly, in relation to its correct meaning.

21. Ghrāna Tattva— the operative nasal or the olfactory sense.

This Tattva perceives smell. It is the projecting part of the face used for breathing in and breathing out. It has the sense of recognizing the odour or smell. This is a faculty of tracking out, where from the smell or odour spreads.

22. Vāk—the operative speech or the articulate expression.

This Tattva is of speech the revealed word. It is sound and an expression. It is related to oratory. Shabda is the word and Vāk has got three stages—Pasyanti, Madhyamā, Vaikhari, according to the Sanskrit grammarians. The Trika philosophers recognize the 'Parā' as Vāk.

23. Pāṇi—Hand

This Tattva is hand, used for handling the Tools like instruments, including the arms and missiles, as seen in Devi. It is for writing, stiching, giving shape to anmy object. It is used for taking food and also for throwing any object far or near.

24. Pāda—the operating feet

This Tattva are called the feet. It is the lowest part of the body mechanism. It is for holding the weight of the body and for walking.

25. Pāyu—the operative anus

This is Tattva, known as *Payu* or anus. This is the opening of the elementary canal through which undigested residues are voided from the body. This comes under the characteristics of 'Vaman' to take out of the body.

26. Upastha—the regenerative functioning

This Tattva is related to lap, and is for regenerating the family tree.

(These five Tattvas are said to be the Karmendriyas)

27. Śabda —- the audition

It is the Tattva of hearing the audible sound. It is to be heard by the ears. It is a form of subtle ether.

28. Sparṣa —the physical sensiblity

This Tattva is for having the feeling of touch. It is to be in contact with any object, including touching one's own body. Sparsha provides sensation. It is the emotive part of Tattva. Sparṣa gives sensational effect to the skin. It is a form of subtle air.

29. Rūpa –the Formation

This Tattva is with form, having shape and dimension of the object that has got a mould. It is that object that holds and shapes It is a way of being, which is existent, whether animate or inanimate. Sri Cakra is the Geometrical form of the Divinty, expressing both male and female, adored as Siva and Sakti, so is the Murti and the manifestation. Rūpa is visible to the eyes as any form.

30. Rasa—the taste to the tongue

This is the Tattva of being liquid, it is water substance. The Rasas are six in number, having the property of giving taste to the tongue.

31. Gandha—the smell or the property of earth

This Tattva is related to odour and smell. The nose has the sensation of Gandha.

(These are known as the Pañca Tanmātras)

32. Ākāśa—the spacial element

This Tattva is space, indicating vastness of the sky. It is ether considered as the fifth element. This is subtle and ethereal void, where there is no limit, with an infinite openness and vastness.

It is emptiness of the open space.

33. Vāyu Tattva—the Aerial element

This Tattva is the life line for manifestation. It is vital air. Air has got the physical condition. It is gaseous said to be having the properties of Prāna, Apāna, Samā na, Vyāna and Udāna.

34. Vahni Tattva— the Igneous element

This Tattva is the fire Tattva, both for lightening and giving heat. It is the fire within the body's anatomy, in the form of temperature and for producing the digestive juices.

35. Salila Tattva—the Aquatic element

This is the water content. This Tattva is the clear and transparent colourless liquid. It is perfectly neutral in its reaction devoid of taste and smell. Hence, quite a different Tattva. All the springs and lakes, ponds and rivers, seas and oceans are therefore, being revered as the Salila/Jala Tattva--the constituent Tattva of Śiva.

36. Pṛthvi Tattva—the Earth consciousness

The Pṛthvi Tattva is the *Adhara* or the *base*Tattva. It is the first Tattva, according the *Arohana* system, to reach to the ultimate Śiva Tattva. It is the place for dwelling, being the base element.

Since Śakti is the reflecting Tattva with other 35 Tattvas. Therefore, the Tattvas as described in the *Para Praveshika* are considered to be the Thatness, which is both Ś akti and Śaktiman. The Agamic rituals are rather an invocation to these Tattvas through the proper understanding Mother

Divinity as the Śakti, in every object or manifestation both mundane and immanent. Be it Śaiva or the Śakti admirers, both recognize the quintessence of the thirty six Tattvas.

Notes and References

1. Tattva is closely related to the Eatrnity. It is taken as the Darśana Śāstra. It deals with the process of manifestation, with rtegard to the universe. The manifestation as is seen is with form, as such can not be regarded as real, because, it is subject to mutation. Then Tattva can be said that which does exist, with variety, with name and form, which are just the constituents of the Divinity.
2. "Bhinānā m Vargānām Vargikaraṇa Nimitam Bhāti Tattvam"—*Iśvara Pratyabhijñā-Vimarśini,* Part 2, p192
3. 'Tat' is closely associated with the concepts of 'Tatpada', 'Tadrūpa', Tattva', Tataste, Tad-svarupa Tat-viṣṇu, 'Tatsama', 'Tadbhava', 'Tanmaya' state of existence.
4. The scripture says: —--"Srjena -Icchayā –Rūpā Upādhi Viśiṣta Sadā Siva. "
5. Śiva and Śakti are as the universal axis and its rim. Śiva is both the material and the efficient cause of the world; through its Śaktis. Embodied souls thus have the material cause, with soul to evolve and to ascend to the higher realms of Śiva.
6. This is the traditional invocation, to awakenthe faculties of the Spirit, Knowledge and of the Universal consciousness, which is Śiva.
7. Dr Chaman Lal Raina, '*Śri Chakreshvara Nirupanam'*, Pub : Shakti Sadhana Kendra, Delhi, 2016
8. Sūkśma Srshti or microbe is conscious within every cell, as has been investigated by the microbiologists, in the medical sciences. *The Lalitā Sahsranāma* speaks of 'Brahma Kīṭa Jananī, from Macro to Micro is with the unification of Śiva and Śakti Tattva.
9. Śiva Sūtra stands as the spiritual search for seeing the manifestation as of the three segments within One set. This is, All consciousness, what is termed asJagat withinTattva.
10. The term Bhairava has been cpoined for Śiva, during the realization of Abhinavgupta, , while adoring Śiva with Bhairava Stotram, '
11. The *Parmānanda Tantra* says:

    "Prapañcam Vāsanā Rūpā Śaktir Iti abhidiiyate
    Nisprapañ ca Cidektama Śiva Tattvam Samiritam"

12. Śiva is Śakti, when is in the state or realm of 'Prapañca'--the essentials of the Pañca-Tattvas, which are 'Brahmā --Viṣṇu--Rudra- Isvara, Sadāśiva'.
13. This Unknowable Śiva, who is Śaktimān sprouts in such a manner that Śakti appears to be different, but in essence both are one and the same, as power-holder and the power can never be the thought as different.
14. The illumined Śiva realizes within himself the infinite and indescribable Samādhi. Śiva is without any bondage of the relative world.
15. Following names seem to be more prominent in the Kashmiri heritage, which sound as The epithet of Ś iva is the 'NilaKantha— the name related to the churning of the ocean and drinking the 'Halahala' poison to save the creation. Śambhu', 'Śiva', 'Maheśvara', 'Iśvara', 'Śarva' 'Śankara', ' Mrtuñjaya', 'Ugra', 'Śri-Kantha', 'Vāmadeva', 'Mahā deva', 'Hara', 'Gangādhara', 'Rudra'.
16. "Iśvara abides in the heart of all creatures", causing them to be involved and ultimately to be evolved, according to the *Karma* by His illusive power. according to the *Bhagvadgita*
17. *Bhakti Vilāsa*, Śloka 4 p. 174
18. The *Amarakośa* refers to the forty-eight epithets of Iśvara under Svarga-varga:

    Śambhuh Ishah Paupati Śivah Śuli Maheśvara

    Iśvara Sarva Iśanah Śankara Candraś ekharah etc.
19. 'Śuddha Vidyā Tattva' then sprouts to the very source of Śiva- awareness or consciousness. The tangible world also seems real, as being the same Śiva.
20. '*Śunyam Bhutalam Ghatabhavah'*, thus the Tattva is said to be a bare peice of land, as a place without jar.
21. 'Prakṛti Tvam Ca Sarvasya Guṇa Traya-Vibhāvini'. — A prayer of Brahmā in the Tāntrik *Rātri Suktam*.
22. *Saundarya-Lahiri* of Ādi Śankara, ed, S. S. Sastry & T. R. S. Ayyangar, Pub Theosophical Society, year 1937 Page 51.

Ex-Professor,
Florida International University
2 KHA 19, Shastri Nagar,
AJMER-305001
Tel. : 01452-621432

Tripuropāsana in *Tripurārahasyam*

Geetha Padmanabhan

ॐ नमः कारणानन्दरूपिणी परचिन्मयी ।
विराजते जगच्चित्रचित्रदर्पणरूपिणी॥[1]

Om kāraṇānandarūpiṇī paracinmayī।
virājate jagatccitracitradarpaṇarūpiṇī ॥

Obeisance to that *Nirguṇa Brahman,* the Supreme Consciousness non-dual Reality, the primal cause, Blissful as the Transcendental Consciousness shines both as the mirror and the picture like reflection, the Universe.

***Śrī Vidyā* श्रीविद्या**

The Supreme Divine, the Divine Mother, Supreme Consciousness is the substratum, the *abhinna nimitta upādāna kāraṇa* of all that ever existed, is existing, and will exist too. That Supreme, that Divinity when it is the *Nirguṇa Brahman*, It is static, it is called *Śiva*, and when it is the *Saguṇa Brahman*, It is the dynamic *Śakti*. He is the *Kāmeśwara* and She, the *Kāmeśwarī*. They are the *Sat* and the *Cit*. Are they dual? No. They are the Single non-dual Supreme divinity, that *Bindu*, the origin of all. Her abode is the *Śrī Nagaram.* Her Knowledge is *Śrī Vidyā*, Her manifestation *ŚrīCakra*. The Primordial deity is *Lalitā,* also known as *Rajarājeśwarī*, *Ṣhoḍasī, Tripurā* or *Tripurasundarī.* Her knowledge, Her *Upāsan*ā, Her *mantra, yantra, tantra anuṣṭāna,* everything about Her is that Supreme *sādhanā* called *Śrī Vidyā. Śākta-Vedānta*, *Śākta*-Philosophy centres around the Female Principle as the Supreme power that creates, protects, and dissolves the entire creation. The *Śāktamāna Samkalpa* summarises this in one line;

स्वस्ति—सकल प्रपञ्च सृष्टि स्थिति संहार तिरोधान अनुग्रह कारिण्याः पराशक्तेः—

1. *Tripurārahasyam* 1.1

This tradition is one among the *Ṣaṇmata*, the six fold forms of worship, categorized by *Śankara Bhagavatpāda* himself. *ŚriVidyā* tradition is the timeless age old tradition. We can see evidences in the *Ṛgveda Āraṇyaka, Bahvṛca śākā* in 16 *Ṛks*.; where-in *Śrīyantra,* its origin, its form, the *devatāviśeṣa*, *ŚriVidyā Mantrās, pujāpaddhati* both outward external *Bhāhyapūjā* and internal *Āntara Mānasapūjā*, its *Kāmakalā Swarūpa, Dhyāna*, the ultimate goal of the *Sādhaka Devi Sāyujyam* all are well detailed. *Lalitā Sahasranāmam* describes this as 'आत्मविद्या महाविद्या श्रीविद्या।' *Bhaskararaya Makhi* in his *Lalitā Sahasranāmabhāṣyam* explains *ŚriVidyā* as 'आत्मज्ञानारूपत्वादात्मविद्या।' the very essence of Ātmajñānam. *Viṣṇu Purāṇam* clarifies ŚriVidyā as—'यज्ञविद्या महाविद्या गुह्य विद्या च शोभने—कर्मविद्या विश्वरूपाद्युपासना मन्त्रविद्या ब्रह्मविद्या चेति विद्यापद चतुष्टयार्थः।'

This is the *Vidyā* for *Ātmasākśātkāra*, Self-realisation. This supreme *Vidyā's* essence is the *suddha-Vidyā,* the *ŚriVidyāPañcadaśākśari,* the *Tripurasundarī mantra* consisting of the sacred 15 syllables. The three *Mahā Vidyā mantras* are the three *Tripurasundarī mantras* invoking the three deities *Balā Tripurasundarī*, *Lalitā Tripurasundarī*, *Ṣoḍaśī or Mahā Tripurasundarī* . They are the very core of *ŚriVidyā.*

"यत्रास्ति भोगो न च तत्र मोक्षः यत्रास्ति मोक्षो न च तत्र भोगः।
श्रीसुन्दरीसेवनतत्पराणां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव॥"[2]

The paths that gives *bhoga* does not give *mokṣa*, while the paths that show the road to *mokṣa* does not give *bhoga* but for those *Sādhakās* who are practising *ŚriVidyā*, both *bhoga* and *mokśa* are in their own hands, so says the *Tantrās*. The central pivotal point is the *Bindu*, the single dot that is the non-dual *Śiva-Śakti*, the *Mūla Prakṛti,* the *Parāambhā*, the *Tripurā* from which all emanate. Can one define the indefinable source of all? Can we even attempt to describe the undescribable? Any attempt to grasp that which is *avāṅgmanasagocaram* beyond words, thoughts and intellect is beyond the

2. *Brahmandapuranam*

reach of anyone. *Sanātana Dharma*, its *Āgama Nigama* comes to our rescue here. *Śṛutibhodhaṁ, Tantraviśleṣaṇam, Āptajana Vākyaṁ, Śiṣṭācāram* are the guiding principles, that lead the *jiva*, the *Sādhakā* from the darkness of ignorance to light of *Devi Sāyujyaṃ.* For that *Lalitā MahāTripurasundarī Upāsanā* is the route.

Tripurā in LalitāSahasranāmam

She is "त्रयी"[3]*, Ṛg, Yajuś* and *Sāma*. She is "त्रिकूटा"[4]. All about Her are defined in forms of threes. She is the "त्रिपुरा त्रिजगद्वन्ध्या" praises the *Lalitā Sahasranāmam*, In the *bhāṣya Bhaskararāya Makhi* details that with *pramāṇas*.

"त्रिपुरा"[5] —"तिसृभ्यो मूर्तिभ्यः पुरातनत्वात् त्रिपुरा। मूर्तित्रयस्यापि पुरातनत्वात् अम्बिका यः त्रिपुरेति नामेतिति।"[6] *Tripurā*, the divine is the most ancient, more ancient than even the *Trimūrtis, Brahma, Viśhṇu and Rudra*. Hence, She, that *Ambikā,* is called त्रिपुरा.

***त्रिपुरार्णवे*– "नाडित्रयं तु त्रिपुरा सुषुम्णा पिङ्गला इडा।**
मनोबुद्धिस्तथा चित्तं पुरत्रयमुदाहृतम्। तत्र तत्र वसत्येषा तस्मात्तु त्रिपुरा मतेत्युक्तम्।"

According to *Tripurārṇavam* , the three *Nāḍīs, iḍā, pingalā* and *suṣumnā* is where Devi is. Devi is the very *Prāṇa*, the very breath of anything that breaths. The three flows of Prāṇa through the three *Nāḍīs* is the very *Devi Tripurā* Herself. *Manas, Buddhi* and *Cittam* Mind, Intellect and Memory are also *puratrayam*. *Gaudapāda* in his *Sūtra* elaborates this as *tritatvabheda Tripurā*. She is *Guṇa trayam, satva, rajas* and tamas, *Mūrtitrayam, Bālā, Lalitā. Ṣoḍasī* or *Bālā, Caṇḍī and Lalitā;* She is the *Bījatrayam* ऐं ह्रीं श्रीं. She is *Trikoṇamadyanilaya*. The

3. *Lalita sahasranamam* 875
4. 588
5. *Lalita sahasranamam* 626
6. *Sowbhagyabhaskaram*.

Bindu by itself a *Trikoṇa* and is encased in a *Trikoṇa* further in more triangles. Her *Śrīyantraṃ* consists of 44 triangles.

KālikāPurāṇam says–

त्रिकोणं मण्डलं चास्याः भूपुरं च त्रिरेखम्।
मन्त्रोऽपि त्रय्यक्षरः प्रोक्तः तथा रूपत्रयं पुनः॥
त्रिविधा कुण्डलिनी शक्तिः त्रिदेवानां च सृष्टये।
सर्वं त्रयं त्रयं यस्मात् तस्मात् त्रिपुरा मता॥

Nagaraṁ नगरं	*Śrīnagaraṁ* श्रीनगरं
Śaktiḥ शक्तिः	*Lalitā, Ṣoḍasī, Tripurā,* or *Tripurasundarī* ललिता षोडशी त्रिपुरा त्रिपुरसुन्दरी
Yantraṁ यन्त्रं	*Śrīyantraṃ* श्रीयन्त्रं
Mantraṁ मन्त्रम्	*Bālā* बाला *Pañcadaśī* पञ्चदशी *Ṣoḍasī* षोडशी
Vidyā विद्या	*ŚriVidyā* श्रीविद्या

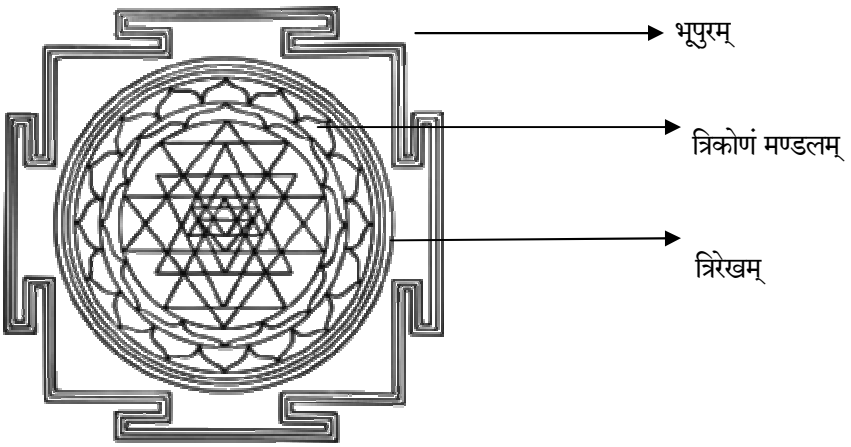

Imagecourtesy Internet

त्रिकोणमध्यनिलया

Tripurā* in *Lagustavi

'Hey Devī' calls out *Laghubhattāraka* when describing the *Apara Swaroopa* of the Divine *Tripurā*, shows how everything in the forms of trines.

देवानां त्रितयं त्रयी हुतभुजां शक्तित्रयं त्रिस्वराः।
त्रैलोक्यं त्रिपदी त्रिपुष्करमथो त्रिब्रह्म वर्णास्त्रयः।
यत्किञ्चिज्जगति त्रिधा नियमितं वस्तु त्रिवर्गात्मकं।
तत्सर्वं त्रिपुरेति नामभगवत्यन्वेति ते तत्वतः॥[7]

.Devatātrayam	*Brahma, Viṣṇu, Maheśa,*
Agnitrayī	*Garhapatyam, Avahanīyam, Dakṡiṇāgni*
Śaktitrayam	*Iccha, Kriya, Jñāna*
Triswarā	*udātta, anudātta, svarita*
Trilokyam	*Bhu: , Swargam, Pātālam*
Tripadī	*Tripāda Gāyatri*
Tripuṡkaram	*Gangā, Yamunā, Saraswatī*
Trayī	*Ṛg, Yajuś, Sāma*
Traya:	अ उ म अकार उकार मकार

What that has been expanded in threes, all those are in reality follows that Tripurā. Besides this Vasu, Rudra,and Āditya; Agni, Vayu,and Surya; Bhauma, Jātara, Pāḍava; Deva, Ṛṡi and Pitṛu; Ātmā, Antarātmā, and Paramātmā; Prakṛti, Vikṛti and Puruṣaḥ; dharmarthakāma; Bhūta, Bhaviṣya, and Vartamāna; Trimudrā. As Somatilaka in his vyakhyā of Lagustavi says, all triputis are nothing but Tripurā. Can one count the triputi of Ambā!

7. *Laghupañcastavi*- sl 16

Tripurā* in *Tripuropaniṣad

In the bhāṣya of Tripuropaniṣad, Bhaskararāya Makhi elaborates Tripurā and Her principles in detail.

"तिस्रः पुरः त्रिपथा विश्वचर्षणी"[8] "पञ्चविधात्मभजनेनापि त्रिपुरप्राप्तेः इति शक्तिरहस्य वचनम्। तस्मात् सैव "तिस्रः पुरः त्रिपुरा"।[9] The *Upaniṣhaḍ* defines the *pradhāna devatā swarūpa Tripurā*. *Mukti* can be in five different ways, *Sālokya, Sāmīpya, Sārūpya, Sāyujya* and *kaivalya*. *ŚaktiRahasyam* states the required methodology to gain *Mukti*. By *Karmanuśṭāna* one gets *Sālokya*. By *Pratīka* or *Vigrahaārādhanā* one gets the desired *Sāmīpya*. By *sevya sevaka , lakśya lakśaṇa Bhāva and Mātṛubhuddhi Sārūpya* is gained. By being stead-fast in the principle of *Aham brahmāsmi,* one obtains *Sāyujya*. From *Sagunopāsna,* immersing the self in *Nirgunopāsna* one gains *Kaivalya Mukti. Yaga* or *yajña,* physical outward worship is the *Karmamārga, SevyaSevakaBhāva* is the *Bhaktimārga* and the *Nirguṇaupāsanā* is the *Jñānamārga*. All the three paths are symbolised by *Tripathā* leading to the wisdom of *Devī Tripurā*. The *Tripathās* lead to three *Muktisthānas* of *Chandraloka*, *Ādityaloka* along with *Brahmapadam* says *Taittarīyopaniṣaḍ*. By *Tisraḥ Puraḥ* the three *Muktisthānas* and *Tripathā* the three paths of *Karma, Bhakti* and *Jñāna* are defined. By विश्वचर्षणी, Her *pañcakritya* of creation, protection, the dissolution, the covering *Tirodhāna* and Her benevolence, Her *Anugraha* are indicated.

Karmās	*Chandraloka*	*Sālokya*
Karmās with Devatopāsanā	*Ādityaloka*	*Sāmīpya, Sārūpya,* or *Sāyujya*
Nirgunopāsna	*Brahmapadam*	*Kaivalyam*

8. *Tripuropaniṣad* 1
9. *Bhashya* 1

Tripurā in her *samaṣṭi* is the *Parā*. She, as *Śānthā* the combined power of the three *Śaktis*, *Iccā, kriyā* and *Jñāna* takes care of the creation. The *Parā* the *Sabda Śakti* expands to the trine of *Paśyanti, Madhyamā* and *Vaikarī.* The *Ambikā* is the *Kriyā Śakti,* the combination of *Vāmā, Jyeṣṭā* and *Roudri.* The Trine of *Śānthā, Parā,* and *Ambikā* are themselves the Trine emergence from the *Bindu-Cakra* denoted by the "तिस्रः पुरः त्रिपथा विश्वचर्षणी " By these three adjectives, it clearly seen that the *kāraṇa,* the primal cause of all that exists is nothing but *Tripurasundarī*, that *Tripurā* herself.

Tripuropāsanā- **The worship of *Tripurā***

"अन्तर्मुखसमाराध्या बहिर्मुखसुदुर्लभा" 10

ŚriVidyā is practised in two ways one as a *Bhayapūjā* with an external yantra, or vigraha. The other superior practice of *Tripurasundari Vidyā* is to practise the *KuṇḍalinīVidyā* where the *Sādhakā's* body itself is the *Śrīyantram* and his spine the *Meruḍaṇḍam*, The six *cakrās* in the *Meruḍaṇḍam, Devī's nivāsasthānas*. By the constant *Sādhan*ā, *japa, Dhyāna* along with breath control of *Prāṇāyāma*, the *Sādhakā* awakens the *Kuṇḍalinī,* the coiled Sleeping Serpent. From the *Mūlādhāra* it climbs step by step piercing the three *Grantis,* three knots of *Brahmā, Viṣṇu*, and *rudra*, climbing through *Ājñā* reaches the *Sahasrāra*, the *Bindusthana*, the thousand petal lotus blooms and the nectar of bliss drenches the *Sādhakā.* In *Śāktasādhanā,* in the *Merudaṇḍa* in the *ṢaṭCakras* along with the *Sahasrāra* all the *NavaCakras* and the *Cakreswarīs* are invoked. Divine *Śriyantra* is the *Śādhakā* himself. In the Antaḥkaraṇa yāga the indriyas and the bhoga bhogya viśayas are the homa dravya sadhanas. Citānanda śakti is the jwāla and The non-dual Śhivābhinna Vimarśātma is the Agni. The Sādaka is the yajwā. Ātmaparokṣa is the lakṣya. This is called the Traipuram, the Śārīrika Siddhānta.

10. *Lalita Sahasranama*

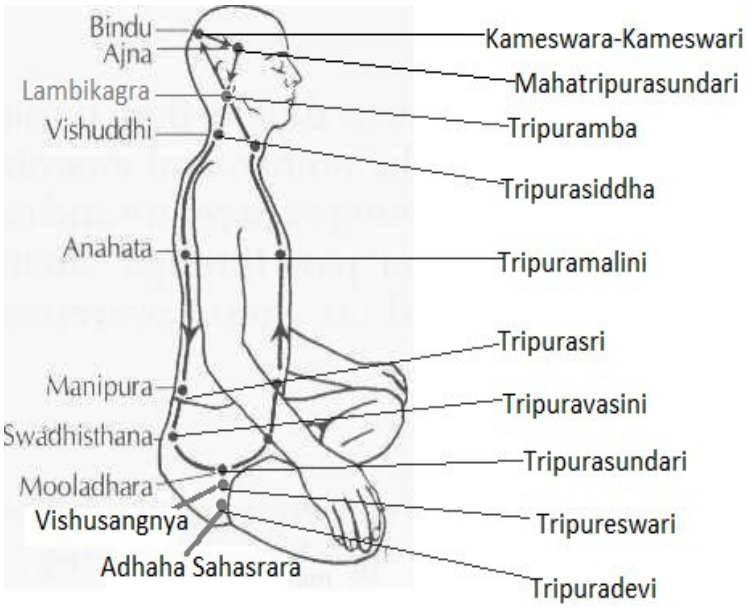

Image curtsey internet – Data added

As clearly seen in the picture, The *Navacakra*s have various manifestations of *Tripurā* as their ruling deity.

"नवयोनीः नवचक्राणि दधिरे"[11] "तिस्रः पुरः नवयोनीः नवचक्राणि:"[12]

That *Bindu,* the *Yoni* expanded as the *Navacakras.* The single dot, that *Tripurā*, that *Lalitā Mahā Tripurasundarī* expands Herself as the *Navayoni Cakras*. Through the Single *Bindu* expands as the trine of *Śāntā, Ambikā* and *Parā.* From that single dot which is the Divine source of all came all, the *Navayonicakra, Navaśaktīs* and all else too. All the *Navaśaktīs* are the Divine Herself. *Triputī* is the knower, Knowable and Knowledge all are one and only, *Tripurā* alone. The *Triśaktīs, Navaśaktīs* all are *Devi Tripurā* Herself.

11. *Tripuropaniṣad,* 2
12. *bhashya*

बिन्दौ तु शिवजीवैक्यं भावनीयं बुधैः सदा॥
ज्ञातृज्ञानज्ञेयानामभेदभावनं श्रीचक्रपूजनं।

Image curtsey internet – Data added

Mahā Tripura Sundarī		
The Bindu		
Triśaktīs		
Śāntā	*Śāntā*	*Ambikā*
	Vāgdevatā	
Icchā	*Icchā*	*Brahmā,Vāmā*
Kriyā	*Kriyā*	*Viṣṇu, Jyeṣṭhā*
Jñāna	*Jñāna*	*Rudra, Raudrī*

Navayonicakra,		
Cakra	*Cakreśvarī*	*Vṛtti*
Trailokyamohana	*Tripurā*	*Jāgrat*
Sarvāśāparipūraka	*Tripureśī*	*Svapna*
Sarvasamkśobhaṇa	*Tripurasundarī*	*Suśupti*
Sarvasoubhāgyadāyaka	*Tripuravāsinī*	*Vicāra*
Sarvārthasādhaka	*Tripurāśrī*	*Upasadanaṃ*
Sarvarakśākara	*Tripuramālinī*	*Śravaṇa*
Sarvarogahara	*Tripuāsiddhā*	*Mananam*
Sarvasiddhipradha	*Tripurāmbhā*	*Nidhidhyāsanam*
Sarvānandamaya	*Mahātripurasundarī*	*Savikalpasamādhi*

Her worship of *Navāvaraṇa Pūjā*, in her *Nine cakrās* and the tenth *turīyacakra,* Her *dhyāna*, everything about Her gives me happiness says Sahib Kaul. In his *Devīnāmavilāsam* He surrenders to *Tripurā* and Her *Upāsanā* through the *Sahasranāma*. In his *vyakhyā* he explains how the very name of *Tripurā* gives that joy which one cannot get from anywhere else.

त्रिपुरेति शिवां ध्यायन् यदस्म्यानन्दघूर्णितः।
त्रिपुरेश्वरताम् जाने तन्मत्तो नातिरिच्यते॥[13]

Her *mantrajapa* done knowingly or unknowingly blesses even a child. This is evident from the story of *Alarka*.

Tripurā Rahasyam* and *Ātmajñānam.

One can go on trying to get a grasp of the most beautiful, most powerful most hypnotizing *Tripurasundarī,* the *Atisundara, Atimanohara. Atisoumya Tripurā*. To understand that Mystery beyond the Trinity, one has to transform oneself as *Hemalekhā* and *Hemacūda* of the *HāritāyanaSamhitā. Datta Bhārgava samvāda* that enlightens is the *Tripurā Rahasya*, the secret of Self-Realisation. *Tripuropāsana.* The ultimate goal of *Tripuropāsana* is

13. *Devīnāmavilāsam* 6.31

merging into that one and only Divine *Tripurā*. The path and the methodology is as taught by *Hemalekhā* to *Hemacūda* and as practised by *Hemacūda*. The wife initiates the husband the prince into *Śrividya* worship. After 12 years of intense *Sādanā, Upāsanā* and a furthur enquiry within leads the Prince into the arms of the divine, the divine merger, the *Ātmajnānam*, the ultimate Self-realisation. That secret of the Sacred Truth gained by *Hemacūda* through *Hemalekhā* has come down to us through *Sumedha. Sumedha* in his previous birth as a child had repeated the *Bālā Vāk Bījam* ऐं without the *Bindu. Alarka* in his rebirth as *Sumedha* is blessed with *Tripurā Rahasya* and he inturn hands it down to mankind by that very Divine Grace of *Tripurā*. *Tripurā Rahasyam* is found within *Brahmāṇḍa Purāṇa* in *Lalitopākhyāna*. It's aim is the rare *Śakta-Vedānta*. *Upasāna* is the *mārga* but *advaita* is the *apekṡa.* The *Samhitā,* the Book in 12000 slokas is in three parts *Mahatmya khāṇḍa*, *Caryā khaṇḍa* and *Jñāna Khāṇḍa*. It is the nectarine shower *Amṛtadhārā* from the Divine. *Caryā khaṇḍa* is lost to time and talks of the *Ācaraṇa* for the *Tripuropāsanā*. *Mahātmyam* is *Deviprabhāvam* and *Jñāna Khāṇḍa* the True knowledge, the *Jñāna* when gained all else dissolves. *Samsāra Sāgara*, the bondages of life, the *Kartavyam*, the obligatory duties, the ordained actions, *Karma and Karmaphala,* the actions and reaction initiated due to ignorance and desire all dissolve once the Knowledge and Wisdom of *Tripurā* dawns. *GuruParamparā* in *ŚrīVidyā* is very important. The knowledge was handed down to Sage *Dattātrya* by Lord *Śiva*. *Datta Muni* handed it over to *Avadūta Mahātmā Samvarta* who in turn taught it to *Parasurāma.* From *Parasurāma* it came to *Sumedhas.* The knowledge dawns after an intense of tapasya, the *Upāsanā Śrividyā*. The knowledge of *Tripurā* is that She is the changeless eternity, the one and only substratum of all the three states of *Jāgrat, Svapna* and *Śuṣupti,* the three states of sleep, dream and waking. The undercurrent consciousness, is the ever changeless, timeless, pure, Supreme, unbound, unaffected called as *Śri Tripurā* is none other than one's own Self.

Tripuropāsanā done even with no true understanding what the *mantra* and *Upāsanā* is about, a mere repetition done unknowingly by a even child bestows the Knowledge beyond which nothing more is to be gained.

"यथा श्रीदत्तगुरुणा भार्गवाय निरूपितम्।
उपप्त्युपलब्धिभ्यां समेतं बहु चित्रितम्॥"[14]

It all begins with a poser by *Bhārgava* to *Samvarta* "कस्त्वम् पुरुषसत्तमः". And Samvarta's counter poser " your query of 'who are you', the word 'त्वम्' 'you' is a meaningless both taken in the literal sense or in the non-literal, meaning where is the question of 'त्वम् and अहम्' , where is the duality?

"त्वमित्यवगते प्रश्नः पिष्टपेषणवद् वृथा।
त्वया नावगतश्चेत्तवमिति वाक् स्यान्निरर्थिका॥"[15]
"ज्ञातं कारणमप्येवं तस्मात्संज्ञैव न त्वया।
ज्ञाता सा न स्वतःसिद्धा कल्पिता बहुधापि सा॥"[16]
"त्रिपुरां सम्यगाराध्य तत्कृपालेशमाश्रितः।
उपलभ्य स्वात्मभावं सर्वसाम्याश्रयात्मकम्॥"[17]
"त्रिपुराम्बापादसेवामन्तरा नैव लभ्यते।
सापि श्रीगुरुनाथस्य कृपाद्वारैव नान्यथा॥"[18]

Samvarta taking this opportunity initiates *Parasurāma* in to *adyātmavidya* through *Tripuropāsanā*. The Divine worship is always for dissolving our *Karma* and gaining *citta suddhi*. Only when one reduces ones *vasanās* and *karmaphala* of both *puṇya* and *pāpa,* one becomes eligible for the *Ātmajñāna*. *Lalitā Sahasranāmam* says—She is "निर्द्वैता द्वैतवर्जिता". Worship of the Divine *Tripurā, ŚrīVidopasana* is one where worship itself turns the worshipper towards Self-realisation. Datta Guru shows the path by which the grace of *Tripurā* is attained and true knowledge realised. When the *Rajas*

14. *Tripurā Rahasyam* 1.5
15. *Tripurā Rahasyam Mahatmya Khandam* 4.29
16. 4.32
17. 4.52
18. 4.65

and *tamas* are ruling the mind, when *Moha, Maya*, delusions are drowning us the parable of *Sakhi* is used to dissolve all the confusions and clears the mind of true seeker. The story is woven where the Bliss eternal, the natural state absolute, *Sat-cit-ānandam* is forgotten by the Pure Consciousness in the transcendental state and is buffeted by ignorance. It reverts back to the original natural state only after discrimination and investigation. Investigation is the only light that drives away the darkness of delusion.

"विचारार्कोऽविचारान्धमहाध्वान्तनिबर्हणः।
तत्र मूलं भवेद्भक्त्या देवतापरिराधनम्॥" 19
"आराधनेऽपि मूलं स्याद्भक्तिः श्रद्धा च निर्मला।
तत्रापि मूलं माहात्म्यश्रवणं परिकीर्तनम्॥"20
"केवलां चितिमात्मस्थां त्रिपुरामात्मरूपिणीम्।
बुध्वाऽभवत् विमुक्तात्मा स्वात्मभूताकिलेक्षणः॥"21

Worship of the Primal cause as *Tripurā* is the beginning point. Understanding her truth and the wisdom that *Tripurā* means perfection. Perfection is realisation of all as the Self. The undifferentiated *Brahman* signified by Aum and That *Brahman* alone manifests itself as *Sat-Cit-Ānandaswarupiṇī* as that *Tripurā* is the *Nirguṇa* and *Saguṇa.* The *Bimba* and the *Pratibimba* are no two different things. The self and the Jiva are one and the same. That is *Devi Sāyujyam*. That is the principle, the mystery of *Tripurā*, the riddle of Self-realisation. As long as the *Sādhaka* is bound to the thoughts of the body there is bondage. Once that is dissolved then there is freedom from bondage, he transcends the imagined division and bondage of life and attains absolute Liberation and merges into the Divine *Tripurā.*

"न बन्धोऽस्ति न मोक्षोऽस्ति साधकः साधनं च न॥
अखण्डाद्वयचिच्छक्तिस्त्रिपुरावभासिनी।

19. *Tripurā Rahasyam Jñāna* 2.69
20. 2.72
21. 4.94

सैवाविद्या च विद्या च बन्धो मोक्षश्च साधनम्॥"[22]

"सर्वात्मभूतं यद्रूपं विचार्यावगतं स्फुटम्।
मुक्तिः स्यादन्यथा बन्धः सा भवेत् त्रिपुरैव ह्रीम्॥"[23]

Liberation is the natural state of Consciousness, which is *Tripurā*, the mystery beyond the Trinity, the mystic *bijam*, ह्रीम्॥

Muthuswamy Dīkshita was a great *Śrīvidyopāsaka* early 18th century who has sung a lot on the Divine Devi. His *Kamalāmbā Navāvaraṇa Kīrtanas* are living tradition in both the musical platforms and *Śrīvidyopāsanā*. At the end of the nine songs at the end in the *Mantra Kīrtana,* he summerizes his desire and the core path of the *Śrīvidyopāsanā.* He calles out to that Divine *" Oh,Rājarājeśwarī, Hey Mahā Tripurasundarī, Lalitā Bhattārikā* grant me the boon of *Videha Kaivalyam* quikly rather immediately, instantly and release me from the bondage , the bondage of Samsāra and protect me."

गुरुमन्त्रयन्त्रदेवतात्मानम्अभेदभावनं श्रीचक्रपूजनम्।

Blessed are we under the Anugraha Chāyā of *Tripurā,*
Blessed are we our actions are guided by *Tripurā*,
Blessed are we our thoughts are forever in Glory of *Tripurā,*
Blessed forever will we be as we are the children of *Tripurā.*

इति शम्।

Tantrik Pañcānga specialist.
45/21 5th Trust cross st; Mandaiveli,
Chennai-600028,Tamil Nadu,
Tel- 044-24952566, Mb-944532865,
e-mail- vallimaragath@hotmail.com.

22. *Tripurā Rahasyam Jñāna* 22.105
23. 22,112